Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

SRVODY 1938 G.K.V.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

079815

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

079815

सर्वोदय

अेष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके

सम्पादक—काका कालेलकर, दादा धर्माधिकारी

वर्धा, नवम्बर १९३८ अंक ४

साध्य और साधन का अभेद

अहिंसा सत्य की गवेषणा का अधिष्ठान है। अहिंसा और सत्य एक दूसरे के साथ इस तरह गुथे हुए हैं कि उनको खोलकर अलग अलग करना बहुत मुश्किल है। वे सिक्के की दो बाजुओं के समान हैं, बल्कि यों कहिये कि वे एक धातु की गोल, चिकनी और बिना छाप वाली चक्री की दो बाजूएं हैं। कौन कह सकता है कि उनमें से कौनसी सीधी और कौनसी उलटी है? फिर भी, अहिंसा साधन है और सत्य साध्य। साधन का साधनत्व इसीमें है कि वह अव्यवहार्य न हो। इसलिए अहिंसा हमारा परम धर्म है। यदि हम साधन की रक्षा करें तो आज नहीं तो कल हम साध्य को प्राप्त कर ही लेंगे। अगर हम इस तत्त्व को भलीभांति बुद्धिस्थ कर लें, तो अन्तिम विजय के विषय में कोई सन्देह नहीं रह जाता। हमारे मार्ग में कितनी ही कठिनाइयां क्यों न आवें, हम कितनी ही बार असफल क्यों न हों, हमें सत्य की गवेषणा से कदापि परावृत्त नहीं होना चाहिए। क्योंकि दर-असल सत्ता केवल सत्य की ही है; और वही ईश्वर है।

—गांधीजी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अेक अंक...	...	रु० ०–६–०
वार्षिक ...	...	रु० ३–०–०
बर्मा में ...	...	रु० ३–८–०
विदेश में...	...	६ शिलिंग १.५० डॉलर.

(सब डाक सहित)

अनुक्रमणिका

(१) अहिंसा और आर्थिक संकट (जे. सी, कुमार अप्पा) १

(२) 'मारफत', 'और', या 'की', (कि. घ. मशरुवाला) ... ६

(३) समाजवाद से क्यों डरें ? (डॉ. पट्टाभिसीतारामैया) ... १२

(४) वृक्ष–शाखा न्याय

कांग्रेस और किसान-सभायें (विनोबा का एक प्रवचन) . १५

(५) व्यापार की प्रतिष्ठा कैसे बढेगी? (नरहरि द्वा. परीख) ... १८

(६) सर्वोदय और साम्यवाद (हरिभाऊ उपाध्याय) ... २३

(७) देवों का काव्य (काका कालेलकर) २६

(८) सर्वोदय की दृष्टि २९

जहरीला वृत्त-विवेचन; मतभेद और शिष्टता; राष्ट्रभाषा का स्वरूप-निर्णय; क्या यह झूठ सिखाना जरुरी है? 'ज्योत्स्ना' न कि 'जोत्स्नाम्'; कांग्रेस की प्रतिष्टा और जनतात्मा की मान–रक्षा; गजानन दाबके का अपूर्ण कार्य ;

(९) संघवृत्त ५०

पाठकों से.– आपकी सेवा में यह अंक भी पहुंच रहा है। अगर आपने अबतक अपना चन्दा नहीं भेजा है तो तुरन्त मनी ऑर्डर से भेज दें। जो बम्बई में ग्राहक बनना चाहें वे नीचे लिखे पते पर अपना चन्दा जमा कर दें। इत्तिला आते ही उनके नाम 'सर्वोदय' शुरू कर दिया जायगा।

(१) वोरा एण्ड कंपनी, ८, राउण्ड बिल्डिंग, प्रिन्सेस स्ट्रीट, बम्बई, २।

(२) नवजीवन कार्यालय, १३०, प्रिन्सेस स्ट्रीट, बम्बई, २।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्वोदय

एष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके

संपादकः—काका कालेलकर
दादा धर्माधिकारी

नवम्बर १९३८
वर्धा

अहिंसा और आर्थिक संकट

[जे. सी. कुमारअप्पा]

संसार एक जबरदस्त मंथन में से गुजर रहा है। चारों ओर युद्ध और युद्ध ही की चर्चा है। राष्ट्र राष्ट्र और साम्राज्य साम्राज्य युद्ध के लिये उतावले हो रहे हैं। कई जगह अकाल और महामारी फैल रहे हैं। संसार जिस आर्थिक संकट में से गुजर रहा है, उसके ये चिन्ह हैं। ऐसे संसार में अहिंसा का क्या स्थान है ?

आदम से कहा गया था 'अपने खरे पसीने की रोटी खा'। पर तभी से आदमी की यह निश्चित कोशिश रही है कि वह बगैर पसीना बहाये भोजन कैसे प्राप्त करे ? परिश्रम एक तरह का अभिशाप समझा जाता रहा है। पर चूंकि जब तक आदमी को रोटी की जरूरत रहेगी, किसी न किसी को उसके लिए अपना पसीना भी बहाना ही पड़ेगा, इसलिए यह अरुचिकर काम दूसरे-पर डालने के लिए दुनियाभर की तरकीबें आदमी काम में लाते रहे हैं।

कर्म-विश्लेषण

जब हम काम का विश्लेषण करते हैं तो हमें वह खुद ऐसे अभिशापसा नहीं दिखाई देता। उसके दो महत्त्वपूर्ण भाग हैं:— (१) विकास का बीज, अर्थात् वह तत्त्व जिससे व्यक्ति का विकास होकर वह सुखी होता है; (२) परिश्रम। जिस तरह किसी बीज में छिलका और सत्त्व दोनों वस्तुएं होती हैं, और जिस प्रकार आहार को पोषक बनाने के लिए सत्त्व और तुष दोनों की जरूरत होती है, उसी प्रकार हर प्रकार के काम में भी ये दोनों भाग होते हैं, जिससे उसका करने वाला कुछ लाभ उठा सके। कहावत भी है— कि प्रतिभा एक हिस्सा अंतःस्फूर्ति और निन्यानबे हिस्से पसीना है। पसीने और परिश्रम के बगैर प्रतिभा कार्यक्षम हो ही नहीं सकती। अगर मनुष्य चाहे कि वह प्रतिभा से लाभ उठावे, तो उसे दोनों को अपनाना होगा। काम का परिश्रमात्मक हिस्सा मनुष्य के कर्म-द्वारा विकास-साधन के लिए आवश्यक है। एक वाद्यकलाविद् को रंगभूमि पर अपना वादन-नैपुण्य दिखाने से पहले किसी गत का सैकड़ों घण्टे अपने वाद्य पर बजा-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर अभ्यास करना पड़ता है। एक विज्ञान-शास्त्री बनने से पहले मनुष्य को वर्षों प्रयोग-शाला में बिताकर अपनी घ्राणेन्द्रिय को इतनी तेज़ कर लेनी पड़ती है कि वह सल्फरेटेड हायड्रोजन के अस्तित्व को तत्काल पहचान ले। ये तो अनिवार्य बातें हैं। इसलिए मनुष्य का विकास तभी संभव है, जब काम के आनंद-दायक भाग के साथ साथ श्रमात्मक हिस्सा भी हो। जो श्रम से दूर भागता है, वह केवल आनंदात्मक हिस्से से भी लाभ नहीं उठा सकेगा। कुछ समय के लिए भले ही उसे आनन्द आवे। लेकिन बहुत जल्दी उसका वह आनन्द अदृश्य होकर उसका पतन शुरू हो जायगा। अगर ठीक तरीके से काम को किया जाय, तो खुद काम ही मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास का रास्ता खोल देता है। वह मनुष्य के अन्दर छिपी हुई उत्तमोत्तम शक्तियों की अभिव्यक्ति को मौका देकर उसके गुणों को बढ़ाता है। आदमी चाहे किसी भी आदर्श, सिद्धान्त, या धर्म को मानता हो, ये उसके दैनिक काम में प्रतिबिंबित होवेंगे ही। इस तरह व्यक्ति और काम का एक दूसरे पर असर होता ही रहता है। व्यक्ति पर जो असर होता है, शायद वह प्रत्यक्ष काम की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि उससे मानव-व्यक्तित्व का विकास होता है, जो मनुष्य जाति की प्रगति में सहायक होता है।

चूंकि काम का श्रमात्मक भाग अरुचिकर होता है, और मनुष्य-स्वभाव जैसा भी कुछ है, उसे देखते हुए, यह प्रयत्न सदा ही होता रहेगा कि आदमी या तो उससे दूर भागे या दूसरे आदमी के मत्थे मढ़ दे। स्वयं ईसा के सामने सबसे पहले यही प्रलोभन खड़ा हुआ था कि वह रोटी के लिए मिहनत करने के बजाय हुक्म कर दे कि पत्थर ही रोटियां बन जायँ। परन्तु जब तक श्रम श्रम है, कोई उसे खुशी से करना मंजूर नहीं करेगा। इसीलिए जबरदस्ती से काम लेना लाजिमी हो जाता है। अगर हम जीवन में मौज ही उड़ाना चाहें तो हमें हण्टर के बल पर किसी दूसरे से मिहनत करवानी होगी। श्रम और आनन्द के बीच पडी हुई इस खाई को पाटने के लिए पश्चिमी राष्ट्रों ने कुछ भी यत्न नहीं किया। इसके विपरीत उन्होंने निश्चित रूप से जीवन में विलास को अभिषिक्त करने का उपक्रम किया है, जिसके प्रत्यक्ष मानी हैं दूसरों की गुलामी। रोम और यूनान के साम्राज्य इसी सिद्धान्त पर काम करते रहे। अर्थात् मिहनत के सारे काम उन युद्धकैदियों पर छोड़ दिये जाते थे, जिन्हें बाद में गुलाम बना लिया जाता था। इसी प्रकार सामंतशाही के दिनों में अमीर-उमरा शराब पीकर मस्त रहते थे और गुलाम काम करते रहते थे। किसी प्रकार का परिश्रम न करते हुए आनन्द करना एक प्रतिष्ठा का लक्षण था। फिर आगे चलकर धनसत्ता के दिनों में भी पूंजीपति तथा शासक-मण्डल कारखानों के मजदूरों के श्रम पर मौज उड़ाते रहे हैं। और राजनैतिक युग में हम देखते हैं कि साम्राज्य अपने उपनिवेशों के बिरते पर आनंद मनाते रहते हैं। यह सारी पद्धति हिंसा पर आधार रखती है। बगैर हिंसा के कोई राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को अपने लिए परिश्रम करने के लिए मजबूर नहीं कर सकता, और न उन्हें अपना लकडी काटने वाला और पानी भरने वाला बना सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिंसा वर्तमान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामाजिक संगठन का केन्द्र है। अथवा वर्तमान अर्थशास्त्र की इमारत की आधार शिला है।

हिंसा का गौरव

बात यहीं नहीं ठहरती। इस तरह कार्य के अंगविच्छेद द्वारा आनंद का उपभोग करने वाले जन-साधारण नहीं होते। ये साधारण लोग तो तब तक स्वभावतः हिंसा का अवलम्बन नहीं करेंगे, जब तक कि झूठे प्रचार के द्वारा उनकी बुद्धि मलिन नहीं हो जाती, या भावनायें मर नहीं जातीं। इसके लिए हिंसा की प्रतिष्ठा बढ़ाना आवश्यक हो जाता है। यह तो वैज्ञानिक ढंग से और बडे पैमाने पर हिंसा का प्रयोग करनेवालों को समाज में प्रतिष्ठा का स्थान देकर तथा ऐसी हिंसा को धार्मिक मान्यता देकर किया जाता है। एक सेनापति, जलसेना-नायक या किसी फौजी अधिकारी को समाज में प्रतिष्ठित करने के लिए एक रुतबा दिया जाता है। और जब वे मरते हैं, संत पुरुषों की बराबरी में उनकी गिनती कराने के लिए उनके स्मारकों को पूजास्थानों में जगह दी जाती है और सार्वजनिक स्थानों पर उनकी मूर्तियां तथा कब्रें बनाकर उन्हें राष्ट्रीय वीर बना दिया जाता है।

व्यवहार

मनुष्य की आत्मा का यह अधःपात किस लिए? काम का अरुचिकर और श्रमात्मक हिस्सा दूसरे के सिर पर डालने के लिए। और यह आसानी से किया जा सके इसलिए हमें चीजें सुनियंत्रित देखभाल में तथा बडे पैमाने पर उत्पन्न करनी पडती हैं। लँकाशायर की मिलें हैं तो इंग्लैंड में। लेकिन उनका प्रभाव संसार भर में दूर दूर तक पड़ता रहता है। इसलिए उन्हें चलाने के लिए सारे संसार पर हमारी सत्ता होना आवश्यक हो जाता है। कपास पैदा करने वाले भूप्रदेश, किसान, विज्ञान-शालायें, रेल का किराया वगैरा, बन्दरगाह, जहाज, दर्यायी-रास्ते; सिंगापुर, जिब्राल्टर, और अदन जैसे जलसेना के बडे बडे अड्डे और बाजारों पर कब्जा कर लेना आवश्यक हो जाता है। इस तरह की व्यापक सत्ता के बगैर लँकाशायर की मिलें एक दिन भी नहीं चल सकतीं। ऐसी संपूर्ण सत्ता के लिए जल, थल, और हवाई युद्ध के उपकरण जुटाने पड़ते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि जिस प्रकार एक बाघ अपने नाखून और भयंकर ड़ाढों के बगैर पेट नहीं भर सकता, उसी प्रकार इंग्लंड भी हिंसा का बगैर अवलम्ब किये अपनी मौजूदा स्थिति में निर्वाह नहीं कर सकता। यही स्थिति उन तमाम देशों की भी है जो केन्द्रीय उत्पादन की पद्धति को अपना आधार बनाये हुए हैं। दूसरे देशों की स्वाधीनता का अपहरण करना उनके लिए लाजिमी हो जाता है, जिससे पराजितों को वे अपना गुलाम बनाकर उनसे कच्चा माल उत्पन्न कराते रहें और बनाबनाया तैयार माल भी उन्हींके मत्थे मढ़ सकें। इसीलिए तो हम देखते हैं कि अब यूरोप के राष्ट्र तथा जापान भी अपने नग्न रूप में सामने आ रहे हैं और वे हिन्दुस्तान, चीन, अबीसीनिया और जेकोस्लोवाकिया पर आज अपनी किस्मतें आजमा रहे हैं। यह आर्थिक दुरवस्था सारी हिंसा की जड़ है, जिससे आज एक पुश्त से सारा वायु-मण्डल ओतप्रोत है। विनाशक शक्तियों ने अब तो अपने रथ में विज्ञान को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी जोत दिया है। परमात्मा ही खैर करें तो बात दूसरी है, नहीं तो प्रलय का सारा मसाला तैयार है। यूरोप में यों भी कभी शान्ति नहीं रही है, सिर्फ प्रकट और अप्रकट युद्ध का ही फर्क है। क्योंकि निरंतर संदेह और विद्वेष से कभी शान्ति नसीब नहीं हो सकती। वह तो स्नेह और सद्भाव से ही आ सकती है।

गत्यन्तर

जहां केन्द्रित उत्पादन की पद्धति का हिंसा एक जरूरी अंग है, वहां विभाजित घटकों-द्वारा उत्पत्ति कराने में हिंसा की आवश्यकता नहीं होती। बेशक, इस पद्धति से हम बिलकुल टकसाली माल पैदा नहीं कर सकते। इसलिए उत्पादन की केन्द्रित पद्धति की अपेक्षा इसमें माल की उत्पत्ति तो कम होगी, पर इन गृह-उद्योगों की पद्धति में माल ज्यादह बढिया होगा, उसमें विविधता और साथ ही प्रत्येक में अपनी विशेषता भी होगी। इस दूसरी पद्धति में काम के उन दोनों अंगों—विकास और श्रम—को भी स्वाभाविक अवकाश मिल सकता है, जिससे मनुष्यजाति की प्रगति में सहायता मिल सकती है। आज की प्रचलित पद्धतियों में चूंकि यह गुंजाइश है कि चीजें बहुतसी और टकसाली बनाई जा सकती हैं, उत्पादक अपने माल की बिक्री के लिए प्रचार भी कर रहे हैं। यह इसलिए कि ग्राहक उन्हींकी बनाई चीजें खरीदें। अपने इस हेतु को साध्य करने के लिए यह एक परम्परा भी कायम कर दी गई है कि जरूरतों का बढ़ाना सभ्यता और संस्कृति की निशानी है। क्या बहुतसी संपत्ति का होना सचमुच इस लोक या परलोक के सुख और कल्याण की निशानी है? क्या इस संसार की चिंतायें और संपत्ति का मोह हमारे उत्तमोत्तम गुणों का गला नहीं घोंट देते? तब इसका उपाय क्या है?

उपाय यह है कि हम इस कल्पना को अपने दिमाग से हटा दें कि मनुष्य को असली सुख उसकी संपत्ति से ही मिल सकता है। दूसरे, हमें इस बात के लिये सदा तैयार रहना चाहिये कि यदि हमारे दाहिने हाथ से कोई अकार्य हो जाय तो उसे हम अपने शरीर से फौरन काटकर फेंक दें। परमात्मा हमें इसके लिए बल दें और हम कभी अपनी संपत्ति के मोह से अभिभूत हो, कर्तव्यच्युत होकर नीचा सर करके न लौटें। क्या जीवन केवल अन्नमय ही है? क्या संसार में आध्यात्मिक मूल्य नामक एक ऐसी सर्वोपरी चीज नहीं है जो दुनिया भर के भौतिक मूल्यों से श्रेष्ठ है? अगर हम इस श्रेष्ठ मूल्य को ग्रहण करने का निश्चय करेंगे तो हमें अनेक असुविधाओं का कष्ट उठा कर सत्य, प्रेम और शान्ति की राह पर ही चलना पडेगा। और अगर हम सचमुच इन आदर्शों का अनुसरण करेंगे तो हमें कभी भौतिक धन-संपत्ति का मोह नहीं होगा।

सच्चे मूल्य

अगर अपने पडौसियों पर हमारा उतना ही प्रेम होगा कि जितना हम अपने ऊपर करते हैं, तो अपनी संपत्ति का यथार्थ मूल्य जानकर हम उसका सदुपयोग करना सीखेंगे। इसके विपरीत यदि हम ऐसी वस्तुओं की चाह करेंगे जो दूसरे राष्ट्रों की स्वाधीनता के अपहरण से और हिंसा-काण्डों की सहायता से तथा धनवानों की सुविधाओं के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिये गरीबों पर कर लादकर बनायी जाती हैं– तो हम मानवी मूल्यों को ठुकराने और अपने स्वार्थ के लिए दूसरों को सताने के पापभागी होंगे। अगर हमें यह निश्चय हो चुका है कि युद्ध की भयंकर संभावना की जड़ में कच्चे माल तथा बाजारों पर कब्जा करने की लालसा है, तो ऐसी परिस्थिति में पैदा होनेवाले माल को, बेच या खरीद कर हम भावी नर-संहार और हत्या-काण्डों के पाप-भागी बनेंगे। इसलिए अगर राष्ट्रों में हम शान्ति और सद्भाव की स्थापना करना चाहते हैं तो पश्चिमी राष्ट्रों की बताई बडे पैमाने पर उत्पत्ति करने की पद्धति का अवलंबन करना बेकार होगा। हमें थोडे सामान से ही संतोष मानना होगा। क्योंकि ग्रामउद्योग-पद्धति से होनेवाली थोडी उत्पत्ति की हालत में यही होगा।

तो हम क्या चाहते हैं? भोग–साधनों की विपुलता, गरीबों का शोषण, युद्ध और भीषण नरसंहार? या न्याय, प्रेम और शान्ति के साथ थोडी सी संपत्ति? हिटलर, या गांधी?

परिग्रह का अर्थ है भविष्य के लिए प्रबन्ध करना। सत्यान्वेषी, प्रेम–धर्म का अनुयायी, कल के लिए किसी चीज़ का संग्रह नहीं कर सकता। ईश्वर कल के लिये कभी कोई इन्तिज़ाम नहीं करता। हर रोज़ जितनी सामग्री की ज़रूरत होती है, उससे अधिक वह निर्माण ही नहीं करता। इसलिए यदि हमारी उसके प्रबन्ध में श्रद्धा है, तो हमें विश्वास रखना चाहिए कि वह हमें हमारी हर रोज़ की रोटी और दूसरी आवश्यक चीजें अवश्य देगा। अपरिग्रह की आदर्श स्थिति में मनुष्य पक्षियों की तरह कल के लिए अन्न और आच्छादन की चिन्ता नहीं करेगा। उसे अपनी रोज़ की रोटी की ज़रूरत तो रहेगी, लेकिन उसका प्रबन्ध करना तो ईश्वर का काम होगा, उसका नहीं।

—गांधीजी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'मारफत,' 'और,' या 'की' ?

[किशोरलाल घ. मशरूवाला]

'उद्योग **और** शिक्षा' तथा 'उद्योग **की** शिक्षा' यह भाषा तथा उसका मतलब सब जानते हैं। लेकिन अब इसके अलावा उद्योग के **मारफत** शिक्षा की नई भाषा शुरू की गई है। एक शिक्षक पूछते हैं 'क्या सच-मुच इसमें कोई नई चीज है? या वह सिर्फ बोलने की एक नई फैशन ही निकाली गई है? अगर नई चीज़ है, तो उसे अच्छी तरह समझाइये। क्योंकि मुझे यह शक है कि 'उद्योग के **मारफत** शिक्षा' तथा 'उद्योग **और** शिक्षा' में कोई सच्चा फर्क नहीं है। सिर्फ साधारण शिक्षा के साथ उद्योग **की** शिक्षा पर जोर देने के लिए आपने यह नयी भाषा चलाई है।"

इस लेख में मैं इन तीनों में भेद बताने की कोशिश करूंगा।

जहां मामूली लिखना पढ़ना और दो-तीन भाषायें, इतिहास, भूगोल, गणित, विज्ञान वगैरा पढ़ाये जाते हैं, और इनके अलावा कारीगरी के कुछ हुन्नर भी सिखाये जाते हैं, उसे 'उद्योग और शिक्षा' कहते हैं। इसे सब अच्छी तरह जानते हैं। इसलिये यहां इस सम्बन्ध में कुछ कहने की जरूरत नहीं है।

जहां पर भाषायें, इतिहास, भूगोल वगैरा कुछ नहीं पढ़ाया जाता, सिर्फ उद्योग–धन्धे ही सिखाये जाते हैं, और उनके लिये जितना गणित, विज्ञान वगैरा जरूरी हों, उतने ही की पढ़ाई होती है, वह 'उद्योग **की** शिक्षा' है। इसमें भाषा, इतिहास, भूगोल आदि की पढ़ाई की या तो जरूरत ही नहीं मानी जाती, या वहां यह नियम होता है कि उन सब विषयों की पढ़ाई जिन्होंने कर ली है, वे ही ऐसी शालाओं में जा सकते हैं। बढ़ईगिरी, लुहारी, इजनरी, बुनाई, बहीखाते, शॉर्टहैंड, टाइपराइटिंग वगैरा सारे कारीगरी या मुन्शीगिरी के पेशों की पढ़ाई ज्यादातर इसी तरह होती है। इसमें जितनी बातें उस उद्योग के काम की होती हैं, उतनी ही की शिक्षा होती है, और उस उद्योग के **मारफत** ही होती है। इसलिये 'उद्योग के **मारफत** शिक्षा,' का कुछ हिस्सा इसमें होता है।

इसकी कुछ मिसालें देता हूं।

सॉलिसिटर का धन्धा लीजिये। सॉलिसिटर बनने के लिये उमीदवार को किसी सॉलिसिटर के साथ कुछ साल काम करना पड़ता है। वहां सॉलिसिटर उसे अपने पास बैठाकर उस्ताद की तरह पाठ नहीं पढ़ाता। न उसका कोई कॉलेज ही होता है। वह सिर्फ उसे अपने दफ्तर के काम में दूसरे मुन्शियों के साथ लगा देता है। धीरे धीरे उस काम को वह समझने लगता है। जो कानून उसे पढ़ने की जरूरत होती है, उन्हें उसको खुद ही पढ़ लेना पड़ता है। इस तरह काम करते करते वह दो–तीन साल में सॉलिसिटर के धंधे की सारी बातें जान लेता है। इस पेशे को सीखन के लिये लगभग बी. ए. तक की साधारण पढ़ाई जरूरी समझी जाती है। इसलिए सॉलिसिटर उसीको अपना शिष्य बना सकता है जिसकी उतनी पढ़ाई हो चुकी हो।

पहले ही दिन से उम्मीदवार को जो काम दिया जाता है, उसमें एक भी ऐसा नहीं होता, जो सिर्फ उसे सिखाने के लिये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही दिया जाता हो। दफ्तर के किसी जरूरी काम में ही उसे लगा दिया जाता है। कहीं वह गलती कर दे तो उसे रद जरूर कर दिया जाता है। लेकिन दफ्तर के लिये जरूरी न हो और सिर्फ उसको सिखाने के लिए ही दिया गया हो, ऐसा काम उसके लिये खोजा नहीं जाता। हां, फुरसद के समय में वह पुरानी फाइलें ढूंढ ढूंढ कर देखता जरूर है। लेकिन वह तो उसकी सीखने की लगन की निशानी है।

इसमें उद्योग **की** शिक्षा है। और वह उद्योग के **मारफत** भी है। लेकिन इसमें साधारण पढ़ाई नहीं होती है। जिसकी आम पढ़ाई हो चुकी है, वह इसका विद्यार्थी हो सकता है।

इस तरह की 'उद्योग के मारफत शिक्षा' बहुत पुराने जमाने से अनेक पेशों में दी जाती रही है। जब आम पाठशालायें न थीं, तब बनियों के लड़के हिसाब-किताब कैसे सीखते थे? कायस्थ के लड़के दस्तावेज वगैरा लिखने का ज्ञान किस तरह पाते थे? देहात के पण्डित के पास आठ या नौ साल की उम्र तक कुछ लेखन और गणित सीख लेने के बाद किसी महाजन की दूकान पर या बडे कायस्थ के पास बैठकर उनके काम में मदद करते करते ही वे भी उन इल्मों को पा लेते थे। स्वयं मैंने बहीखाते लिखने का ज्ञान पाठशाला में बहुत कम पाया है। पाठक जानते हैं कि व्यापारी लोग पाई (चतुर्थांश) पद्धति (जैसे ५०॥=॥ × ३८।.) से हिसाब रखते हैं और करते हैं। बम्बई में यह पद्धति मेरी शाला में नहीं सिखाई जाती थी। बहीखाता भी नहीं सिखाया जाता था। इन्हें मैंने बचपन से अपने पिताजी और भाइयों को फुरसत के समय दूकान के काम में मदद करते करते सीख लिया। इसके लिये कोई खास सवाल (exercises) नहीं दिये जाते थे। पैसे के लेन देन में और बहीखाते देखते देखते और लिखते लिखते उसके नियम मालूम हो गये। जहां नहीं समझ पाया, या भूल हुई, वहाँ पिताजी या भाई साहब ने सुधार दिया। फिर जब राष्ट्रीय शाला में उसे पढ़ाने का बोझ मुझ पर आया, तब मैंने उसकी पाठ्य पुस्तकें देखीं।

आज भी लोगों में खेती का जो कुछ इल्म पीढ़ियों से है, उसे करोडों किसान किस तरह पाते हैं? देहाती बुनकर, बढ़ई, लुहार, कुम्हार, चमार, मोची, तेली आदि अपने-अपने पेशे का ज्ञान किस तरह पाते हैं? हमारे लोग बहुत अज्ञानी और पिछडे हुए हैं, फिर भी यह तो कोई नहीं कहेगा कि वे बिल्कुल बेवकूफ या ऐसी हालत में हैं, जो न खेती जानते हैं और न कोई कला। उल्टे, इतिहास से तो यह पाया जाता है कि देश के इन सब पेशों को सिखाने का आम पाठशालाओं के जैसा संगठित बंदोबस्त न होते हुए भी इन कलाओं में लोग आज से तो बहुत ही ज्यादा आगे बढे हुए थे। अब तो वे अपना इल्म भूलने लगे हैं।

बात यह है कि पाठशालायें न होते हुए भी ज़िंदगी के मदरसे देश में हमेशा चलते ही रहे हैं और ये मदरसे असंगठित रूप में हरेक पेशे वाले के घर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में चलते हैं। बड़ा आदमी पेशा करता है, छोटे बच्चे उसे मदद करते हैं और मदद करते करते पेशा सीख लेते हैं। कभी कभी उम्मीदवार को रख लेते हैं। कभी कभी उन पेशेवालों की जमात की तरफ से कुछ बंदोबस्त भी होता है।

ये सब उद्योग के **मारफत** शिक्षा की मिसालें हैं। ऐसे और भी उदाहरण बताये जा सकते हैं। पाठशाला में न जानेवाली लड़कियां पकाना, घर सजाना, सीना वगैरा सारे घरेलू काम सीखती ही हैं। अथवा बच्चे भी अपनी स्वभाषा, अथवा घर में नित्य कहे जाने वाले स्तोत्र, भजन वगैरा सीखते हैं। यह सब भले ही शास्त्रीय पद्धति से न होता हो, फिर भी वे हैं तो उद्योग **द्वारा** शिक्षा के ही उदाहरण। लेकिन इसमें कमी यह है कि इसमें सिर्फ उद्योग की ही शिक्षा होती है। बच्चे की सब तरह की शिक्षा नहीं होती। जिसे हम विद्यासंस्कार की शिक्षा कहते हैं, वह इसमें नहीं है।

मेरे कहने का मतलब यह नहीं है कि लिखने पढ़ने की शिक्षा के लिये हमारे देश में कोई प्रबंध ही न था। लेकिन उसे करने वाला एक स्वतंत्र वर्ग था। वह था, कथाकार और उपदेशकों का।

कथाओं और उपदेशों द्वारा साहित्य, इतिहास, भूगोल, विज्ञान, धर्म, नीति, सदाचार, तत्त्वज्ञान आदि की जितनी बातें उस जमाने के पण्डितों को मालूम थीं' उन्हें लोगों में फैलाया जाता था। इस कारण से अनपढ़ होते हुए भी लोगों में सामान्य ज्ञान का प्रचार होता था। अलबत्ता, खुद इन पंडितों और मौलवियों का ज्ञान ही पुराना था। पुराने ग्रंथों से ही वे सारी विद्याओं का ज्ञान पाते थे। अपने जमाने के इल्म को नहीं जानते थे। इस कारण से प्राचीन साहित्य, धर्म, नीति, सदाचार, तत्त्वज्ञान वगैरा में तो उनके ज्ञान को कुछ कीमत थी; लेकिन इतिहास, भूगोल, और विज्ञान की विविध शाखाओं में वह बहुत कुछ निकम्मा होता जाता था।

इस तरह उद्योग की शिक्षा का और साधारण शिक्षा का, मोटे तौर से क्यों न हो, अलग अलग बंदोबस्त था। उद्योग की शिक्षा के लिये कमसे कम पिछली पांच-सात सदियों में शायद ही आम संस्थायें रही हों। वह उद्योग के मारफत कारीगर के घर पर ही दी जाती थी। साधारण शिक्षा के लिए ऊपर बताई हुई पंडितों की पाठशालायें और कथा–कीर्तन, सत्संग वगैरा संस्थायें थीं। पण्डतों की पाठशालाओं में केवल ब्राम्हण वगैरा भद्र जाति के लोगों के ही बच्चे जाते थे। वे भी सब नहीं। लेकिन, कथा, सत्संग वगैरा का फायदा सब को मिलता था। अथवा सब जातियों का अपना अपना कथाकार होता था।

अब हम यह देखेंगे कि वर्धा–योजना और इन सब प्रणालियों में क्या फर्क है?

उद्योग के मारफत शिक्षा का पुराना तरीका व्यक्तिगत और खानगी है। वह प्रथा या तो बाप-बेटे की प्रथा (Father to son system) है, या उम्मीदवार-प्रथा (apprentice system) है। जिन पेशों में उम्मीदवार प्रथा है, उनमें कभी कभी कुछ व्यवस्था भी होती है। और उतनी हद तक वह संगठित (Organised) रूप में है। लेकिन बडे पैमानें पर देश के सब बच्चों के लिये आम पाठशालाओं का ऐसा कोई बंदोबस्त नहीं है। वर्धा-योजना का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हेतु जीवन की इस स्वाभाविक शिक्षापद्धति को बडे पैमाने पर आम पाठशालाओं में सब बच्चों के लिए लागू करना है।

इसके मानी ये हैं कि जिस तरह किसान किसानी, बढ़ई बढ़ईगिरी, लोहार लोहारी, बनिया दूकानदारी, गृहिणी गृहकाम आदि धंधों की शिक्षा अपना धंधा करते करते अपने बच्चों को देते हैं, उसी तरीके से, लेकिन शास्त्रीय रीति से, हम सारी जरूरी पढ़ाई देश के तमाम बच्चों को पाठशालाओं द्वारा देने का सरकार की ओर से बंदोबस्त करें। इसके दूसरे मानी ये हैं कि सरकार दो चार ऐसे पेशों को ले (१) जिनको बडे पैमाने पर देश में सरकारी देखभाल में चलाया जा सके, (२) जो बच्चों के भी लायक हैं, (३) जिनमें इतना मसाला भरने की गुंजाइश हो कि उस उद्योग को कराते कराते उसके द्वारा साहित्य, इतिहास, भूगोल, विज्ञान वगैरा की भी काफी जानकारी बच्चों को दी जा सके। और (४) चूंकि ये केवल मनोरंजन, खेल या पढाई के लिये ही चुने गये कृत्रिम उद्योग न होंगे; लेकिन जिन पर लाखों लोग अपना गुजारा करते हैं, ऐसे सच्चे पेशे होंगे; इसलिये उनमें राज्य–व्यवस्था, समाज–व्यवस्था, अर्थ–व्यवस्था, वगैरा सारी समाज–विद्याओं का भी व्यवहार्य ज्ञान देने की कुदरती सहूलियतें हों।

इनमें सबसे बडी शर्तें पहली दो हैं। पहली यह कि सरकार की देखभाल में बडे पैमाने पर चलाये जा सकें ऐसे कुछ पेशे ढूंढ लिये जायँ। अर्थशास्त्र की परिभाषा म कहें तो, वे देश के ऐसे जीवन-धंधे (Key-industries) होने चाहिये, जिन्हें सरकारी धंधे (Nationalised industries) बनाना ठीक हो। दूसरी शर्त यह है कि वे बच्चों के भी लायक हों।

कई धंधे ऐसे हैं, जो देश के जीवनरूप हैं और जिन्हें सरकारी (Nationalised) भी बनाया जा सकता है, लेकिन जो बच्चों के लायक नहीं हैं। दूसरी ओर कई धंधे ऐसे हैं, जो बच्चों के लायक हैं, लेकिन जो देश के जीवनधंधे नहीं हैं, अथवा जिनका सरकारी बनाया जाना नामुमकिन है।

इन पिछले धंधों के लिये उद्योग के मारफत शिक्षा देने की पाठशालायें हो सकती हैं, अगर खानगी संस्थायें सरकार की देखभाल में उन्हें चलाना चाहें। अलबत्ता, उनकी संख्या बहुत कम होगी। लेकिन उद्योग के जरिये शिक्षा के सिद्धांत की दृष्टि से उनके लिये जगह है। लेकिन सरकार की दृष्टि से सवाल यह है कि बच्चों के लायक देश के जीवनधंधे कौन से हैं? साफ है कि इसमें सब से पहला नंबर कताईबुनाई का ही है। अर्थशास्त्रियों के सब फिरके कपडे के धंधे को हमारे देश का जीवनधन्धा मानते हैं। वे यह भी मानते हैं कि उसे सरकारी बनाया जा सकता है। वह बडे और बच्चे दोनों के लिये पूरा धंधा हो सकता है। हाथकताई–बुनाई के रूप में उसमें बडे और बच्चों के बीच में होड का सवाल नहीं आता। और कपास एक ऐसी चीज है, जिसने सारी दुनिया के इतिहास में पहले दर्जे का भाग लिया है। उसके आसपास खेती, बढईगिरी, लोहारी, रंगाई, धुलाई, छपाई आदि स्वतंत्र पेशों के कुछ कुछ हिस्से बिठाये जा सकते हैं।

इस तरह उद्योग द्वारा शिक्षा के मानी ये हैं कि सरकार देश के फायदे के कुछ धंधे इस तरह चलावे, जिससे देश के लिए माल भी पैदा हो और बच्चों की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिक्षा की भी व्यवस्था हो।

बहुत बडे पैमाने पर जिसका प्रबंध किया जा सके, ऐसा दूसरा धन्धा अब तक तो नजर में नहीं आता है। खेती, गोपालन, वगैरा देश के जीवनधंधे जरूर हैं। लेकिन उनमें बच्चों का उपयोग करना, असंभव नहीं तो मुश्किल जरूर है। उनमें बडे और बच्चे की बराबरी भी नहीं हो सकती है। फिर यह भी शक है कि ये कितनी हदतक सरकारी (Nationalised) बनाये जा सकते हैं? इसलिये अगरचे इनकी कुछ स्कूलें सरकार चला सकती है, तो भी उनकी संख्या कम ही रहेगी।

उद्योग के मारफत शिक्षा के लिए अलग अलग उद्योगों की खोज करने में बहुत से शिक्षाशास्त्री लगे हुए हैं। अगर हम यह समझ लें कि वही पेशा पाठशालाओं के लिये अच्छा काम दे सकता है, जिसे सरकारी (Nationalised) बनाना जरूरी हो, तो यह खोज आसान हो जायगी। जिन पेशों को सरकारी नहीं बना सकते उनमें होड के कारण बच्चों पर ज्यादती, महंगाई के कारण उद्योगों में नुकसान आदि कई सवाल खडे होंगे। जिस धंधे को सरकारी बना सकते हैं, उसमें माल की कीमत ठहराना सरकार के हाथ में है। जो धंधे सबके लिए खुले हैं, उनमें न्याय और स्पर्धा के पेंचीदे सवालों का हल होना कठिन है।

उद्योग के मारफत शिक्षा के पुराने तरीके और इस नयी योजना में दूसरा जो फर्क है, वह ऊपर लिखी बातों पर से खयाल में आ जायगा। बे-नफे का (unprofitable) धंधा न किया जाय और न बच्चों से करवाया जाय। यह बात दोनों तरीकों में है। लेकिन पुराने तरीके में धंधा चलाने वाले का हेतु उससे नफा उठाने (profit-making) का होता है। वर्धा योजना में नफेबाजी का हेतु नहीं है, बल्कि देश और उस धंधे में लगे हुए लोग दोनों के लाभ की रक्षा का है। इसीका नाम तो उसे सरकारी बना देना (Nationalisation) है।

इन दो तरीकों में एक और भी फर्क है। पुराने तरीके में उम्मीदवार को उस धंध से अपनी गुजर करने के लिये तैयार करना, बल्कि उसका तैयार हो जाना, यह गुरु और शिष्य दोनों का हेतु होता है, और इतना ही होता है। नई योजना में लड़का सिखाये हुए, धंधे से ही अपना गुजारा करेगा यह कल्पना नहीं है, और न इतना ही है। कातनेवालों और बुनने वालों का एक राष्ट्र (Nation of Spinners and weavers) बनाने के हेतु से इसमें कातने-बुनने पर जोर नहीं है। लेकिन उसके मारफ़त विद्यार्थी के शरीर, इंद्रियाँ, मन और बुद्धि को पूरी तालीम मिले, और वह लड़का या लडकी हर कोई पेशा सीखने के काबिल हो जाय, यह है। साथ ही उस लड़के लड़की को एक आश्वासन भी दिया जाता है कि अगर वह किसी दूसरे धंधे में सफल नहीं हो पावे, तो वह कम से कम कातने बुनने के मारफत अपना गुजारा कर सकेगा। यह भी कि किसी अपढ की अपेक्षा ही नहीं, बल्कि आज जैसी स्कूलें चल रही हैं उनमें पढे हुए लडके-लडकियों की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपेक्षा किसी भी काम को वह ज्यादा अच्छी तरह से कर सकेगा, तथा जिस विषय में दोनों अनजान हैं, उसे सीखने में वह ज्यादा होशियार मालूम होगा। अगर ये परिणाम देखने में न आवें तो समझ लेना चाहिये कि शिक्षा में कुछ न कुछ दोष है।

इस तरह यह न तो साधारण शिक्षा और उद्योग की शिक्षा की सादा जोड़ है; और न सिर्फ (उद्योगद्वारा या स्वतंत्र-रीति से) उद्योग की शिक्षा है, बल्कि **उद्योग के मारफत पूरी तालीम** की कल्पना है। यह हो सकता है कि हम इस कल्पना को इधर उधर अविवेक से बिगाड़ दें अथवा कहीं बेढंगी बना दें। यह अनुभव या समझदारी (Sense of proportion) की कमी के कारण होगा, लेकिन इससे कोई डरने की जरूरत नहीं है। अनुभव उसे सुधार देगा। असली बात यह है कि यह तरीका जीवन के कुदरती तरीके को शास्त्रीय स्वरूप देने का प्रयत्न है, और उस रूप में वह पहली ही बार शिक्षा-शास्त्रियों के सामने रखा गया है। यह भी याद रखा जाय कि उद्योग के अलावा जिस कुदरत और समाज के बीच बच्चा है, उनको भी शिक्षा के साधन बनाने पर भार दिया गया है।

चरखा संघ ने हाथ-कताई और बुनाई के धंधे को देश में फैलाया है। उसमें चरखा संघ का हेतु एक कंपनी की तरह उस उद्योग से बहुत नफा लूटने का नहीं है। बल्कि, देश में धन पैदा करने के साथ साथ उसे पैदा करनेवालों की हालत सुधारने का है। इसलिए चरखा संघ को कातने-बुननेवालों को लूटने (exploitation) की नीति रखना नामंजूर है। चरखा संघ जो काम बड़ी उम्र के लोगों के लिए करता है, उसे तालीमी संघ देश के बच्चों के लिए करने जा रहा है। बच्चे छोटे हैं, फिर भी क्या जरूरत है कि वे घर या स्कूल में बेकार (unproductive) रहें? देश की दौलत बढ़ाने में वे भी हाथ बँटा सकते हैं। लेकिन, इस काम में उन्हें लगाने में हमारी निगाह साफ होनी चाहिए। वह यह कि जिस काम में बच्चों को लगाये जायँ, उससे उनका फायदा हो। इसलिए यह काम रोजगारी संस्था का नहीं है। वह खुद सरकार को अथवा तालीमी संघ, विद्यापीठ आदि संस्थाओं को करना चाहिए। ये, अर्थात्, मेरे निजी विचार हैं। पाठक इसे तालीमी संघ या किसी संस्था की कारोबारी (official) राय न समझें।

अहिंसा धर्म का यह तकाजा है कि हम दूसरों को अधिक से अधिक सुविधाएँ प्राप्त करा देने के लिये स्वयम् अधिक से अधिक असुविधा सहें, यहांतक कि अपनी जान भी जोखम में डाल दें।

—गांधीजी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाजवाद से क्यों डरें ?

[डॉ. पट्टाभिसितारामैया]

डर स्वतंत्रता का शत्रु है। वह कायरता की माता है। और कायरता तो मनुष्य को नीच और गुलाम बना देती है। भय कमजोरी का भी तो चिन्ह है, जिससे मनुष्य स्थिति-पालक बन जाता है। क्योंकि उस हालत में मनुष्य में प्रत्यय-जन्य दृढता नहीं होती। कमजोर आदमी परिवर्तन को घृणा की दृष्टि से देखता है और उसका विरोध भी करता है, क्योंकि वह उसके परिणामों से डरता है। इसके विपरीत साहसी आदमी परिवर्तन को प्रगति का अग्रदूत समझता है और उसका स्वागत करता है। इसके मानी यह नहीं कि हर प्रकार का परिवर्तन प्रगतिकारक ही होता है, बल्कि यह जरूर सच है कि बगैर परिवर्तन के प्रगति हो ही नहीं सकती। और जो परिवर्तन से घबड़ाता है, या तो उसे केवल पेट पालने भर से संतोष मानना पड़ता है, या वह और भी पीछे हट जाता है। आखिर पुराणप्रिय आदमी भी अपनी परम्पराओं से मुक्ति नहीं पा सकते। हरएक देश की या सभ्यता की पूर्व-परम्परायें उसके अतीत और प्रतिक्षण दूर भागने वाले भविष्य को जोड़नेवाली कड़ियां ही तो हैं। उनमें हमारे पूर्वजों के कीमती और अनुपम अनुभवों का भण्डार होता है। परन्तु परम्परायें भी हर युग के साथ बदलती रहती हैं। क्या हमने अपने इतिहास में कालचक्र की गति और युगों का हाल नहीं पढ़ा है ? पहले कृत युग आता है, फिर त्रेता, द्वापार और कलि और फिर कृतादि इस तरह यह युग-परिवर्तन का चक्र चलता ही रहता है। बेशक, ये युग होते बडे लम्बे हैं। इतने लम्बे कि आधुनिक युग के समय नापने के साधनों से नापे भी नहीं जा सकते। चार युगों की यह चौकडी या महायुग ३८,९३,०३३ वर्ष का होता है। और अबतक हमारी गिन्ती के अनुसार सृष्टि के आरम्भ से लेकर १५५,५२,१९५,५८,८५,०३३ वर्षों का काल बीत चुका है। पश्चिम के शास्त्रियों के मतानुसार भी २,००,००,००,००० वर्ष पृथ्वी को पैदा हुए बीत गये हैं। ऐसी हालत में क्या यह दावा करना मूर्खता नहीं होगी कि इन करोडों बल्कि अर्ब-खर्व वर्षों में मनुष्य और समाज के जीवन में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है ? अपने ही जमाने में पिछले दस वर्षों में हमने इतने परिवर्तन देख लिये हैं कि जिन्हें पिछली गति के अनुसार सदियों लग जानी चाहिए थीं। फिर अनंत कालावधि के इस छोटे से अंश में संसार में कितना परिवर्तन हो गया होगा ?

कृत युग में न तो कोई बेचते थे न खरीदते थे, न नफा था न नुकसान, न कोई मालिक था और न नौकर, न संपत्ति थी न दरिद्रता। ऐसे आदर्श युग से गिरते गिरते हम आज की इस हालत में आ पहुंचे हैं। तब अगर कोई यह प्रस्ताव करे कि जिस तरह हम कृत से कलि में आ पहुंचे उसी प्रकार अब पुनः कलि से कृत में पहुंच जायं; तो क्या वह प्रस्ताव स्तुत्य नहीं माना जायगा ? यह उत्क्रान्ति, यह उत्थान आखिर समाजवाद की ओर एक बड़ा भारी कदम ही तो है ? समाजवाद के नाम पर लोग भले ही नाक-भौंह सिकोडें, लेकिन उसके अर्थ से कोई उतनी घृणा नहीं करता। कभी कभी नवीन कल्पनाओं का प्राचीन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संज्ञाओं में अनुवाद करना आवश्यक होता है। इससे हम देखेंगे कि नवीन प्रतीत होनेवाली वस्तुओं को यों ही नये नाम दे दिये गये हैं। असल में तो वे वही हमारी चिर-परिचित, पुरानी वस्तुएं होती हैं। और इस तरह उनके प्रति हमारी अरुचि घट जाती है। इसलिये समाजवाद से डरने की तो कोई बात ही नहीं, बल्कि हमें उससे घृणा भी नहीं करनी चाहिए। आइए, हम उसके असली अर्थ को ढूंढें, और देखें कि उसको आवश्यक उच्च भूमिका पर ले जाने पर कैसे वह हमारे हृदय में छिपे हुए गहन भावों को झंकृत कर देता है, जो कि बाहर प्रकट होने के लिए कोशिश ही नहीं कर रहे हैं, बल्कि अंतर्युद्ध मचाते रहते हैं। क्या हम अपने घरों में अंधे, लूले, लंगडे, कोढी और अन्य प्रकार के तथा इधर उधर दल के दल बनाकर घूमनेवाले पेशेवर पंगु भिखारियों को दान नहीं देते? दान-भावना हमारे स्वभाव का एक ऐसा अविभाज्य अंग बन गया है कि द्वार पर आये हुए भिखारी को खाली हाथ लौटाना अनार्यत्व का लक्षण माना गया है। प्रत्येक भारतीय परिवार में बच्चों के उदार भावों को विकसित करने की गरज से उन्हें भी इस महान धर्म की दीक्षा सुव्यवस्थित दैनिक दान कर्मों की प्रणालीद्वारा दी जाती है। इस युगों-पुरानी, बद्धमूल, व्यापक राष्ट्रीय रुढी की जड़ में क्या है? अपने पुराणों के पारायणों की समाप्ति में हम जिन "लोकाः समस्ता सुखिनो भवन्तु" और "सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु" आदि स्वस्ति-वचनों का पठन करते हैं, उन्हींको अपने दैनिक आचार में परिणत करने की यह कोशिश मात्र है। इसमें विश्वबंधुत्व की भावना है। समस्त मानव जाति के कल्याण की उसमें कामना है। हमारे हिन्दू समाज के नियमन और विकास में इन सिद्धान्तों का जबरदस्त हाथ रहा है। और सच पूछिए तो राष्ट्रीयता नहीं बल्कि समाजवाद ही हमारी सामाजिक रचना का मुख्याधार है। इस लिए आज सत्ता और संपत्ति की खोज में हमारा समाज जिस दुर्गति को प्राप्त हुआ है, उसे देखकर यदि हमारे कोई सुधारक अपने देशभाईयों को उनके भुलाये हुए व्यापक कर्तव्यों की याद दिलावे, तो इसमें डरने की बात ही क्या है? समाजवाद में कोई विचित्र भूत या राक्षस थोडे ही है, जिसे हमें डरना चाहिए या जिसे हम भगा नहीं सकते।

समाजवाद न तो कोई कवच है जिसे धनवानों ने अपने आपको गरीबों के आक्रमणों से बचाने के लिए पहन लिया है, और न वह गरीबों का भिक्षापात्र ही है जिसे वे भिक्षार्थ धनिकों के सामने पेश करते हैं। पश्चिम में यांत्रिक प्रगति की सहायता से सामन्तशाही पर विजय पानेवाले पूंजीवाद की विरोधी शक्ति के रूप में उसका जन्म हुआ है। हिन्दुस्तान में भले ही पूंजीवाद ने पश्चिमी देशों की भांति अनर्थ न किये हों, पर सामन्तशाही ने देश को कम तबाह नहीं किया है। युगों से भारतीय समाज धन और सत्ता के समतोल समन्वय के आधार पर विकास करता आया और वह बडी सफलता के साथ बेकारी को अपनी सीमा से बाहर रखता आ रहा है। पर विदेशी हुकूमत के पिछले हजार वर्षों ने और पश्चिमी सभ्यता के इन दो सौ वर्ष के संपर्क ने, जिसमें पशुबल पर आधार रखनेवाला उद्योगवाद अपने विकास की चरम सीमा को जा पहुंचा है, देश के हम विचारशील स्त्री–पुरुषों के सामने ऐसी जटिल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समस्यायें पेश कर दी हैं, जो गंभीरता में पूंजीवादी देशों की समस्याओं से किसी प्रकार कम नहीं। इसकी तह में कारण जो भी कुछ हों — और वे दरअसल हैं भी अनेक — पर आज हमारे सामने जो अर्थशास्त्र सम्बन्धी समस्याएं हैं, वे एक भौतिक सभ्यता की तमाम उलझनों और जिसकी सामाजिक तथा धार्मिक नींव दुर्बल हो गयी है, ऐसी तमाम समस्याओं को पेश करती हैं।

यों समाज को गिराने के लिए भौतिक सभ्यता के विदेशी आदर्श ही काफी हैं। वे बीज हैं जो अनुकूल जमीन में बिखेर दिये गये हैं। पर यह जमीन कैसे तैयार की गई? और वह क्या है? समाज पर से धार्मिक सिद्धान्तों का प्रभाव उठते ही जमीन अनुकूल हो गई। इससे समाज के स्वाभाविक नेता जो, उसपर भला-बुरा असर डालने की शक्ति रखते थे, अपने आप अदृश्य हो गये और वह नेतृत्व धीरे धीरे और बमालूम रीति से पश्चिमी शासकों के हाथों में चला गया, जिनको इस देश की असली जरूरतों का अध्ययन करने तथा इन जरूरतों की पूर्ति के लिए जो चीजें वे हमें देने लगे, उनकी उपयुक्तता को जाँचने का न तो अवसर मिला और न उनके लिए यह संभव ही था। इसलिए हिंदुस्तान के लोगों की खास तौर पर पश्चिमी शिक्षा के रंग में रंगे हुओं की मानसिक स्थिति भारत के मध्यम वर्ग के लिए पश्चिम के उन भौतिक आदर्शों-द्वारा उत्पन्न की गई। धनतृष्णा के लिए अनुकूल जमीन बन गई। अनुकूल जमीन, बीज और समय की वर्षा होते ही फसल का क्या पूछिएगा? वह खूब आई। पर वहां धन और सत्ता का समन्वय करनेवाले गुणों का कहीं नामोनिशान न था। वह तो इन दोनों का केन्द्रीकरण सिखानेवाले विदेशी आदर्शों की फसल थी। इसतरह समाज का शासन धन के हाथों में चला गया और अब सेवा जीवन की प्रेरक और क्रियाशील शक्ति के रूप में ही न रही। इसलिए समाज के सभी व्यक्तियों के लिए समान सुविधायें करने तथा संसार में फैली हुई विषमताओं को दूर करने की गरज से जब समाजवादी पश्चिम की जोरदार विचार-प्रणालियों का जोरों से प्रतिपादन और अनुसरण करने लगते हैं, तब हिन्दुस्थान के अंग्रेजी पढे-लिखे और पुरान संपत्तिशाली अमीर–उमरा भी भौंचक्के रह जाते हैं और वे अपने दोनों हाथ उठाकर सरकार से प्रार्थना करते हैं कि वह इन बेचारे सुधारकों पर अपने दमनास्त्र छोडे, जिनके आदर्शों की ओर तो कोई उंगली नहीं उठा सकता, पर हां, जिस तरह वे उनपर अमल करना चाहते हैं या अमल की विधि को प्रोत्साहन देते हैं उसके विषय में भले ही कुछ भी कहा जाय।

ऐसे समय हमें क्या करना चाहिए? क्या हम सिर्फ हाथ पर हाथ रक्खे बैठे रहें, और अधिक धर्म्य और न्याय्य आधार पर समाज की रचना करने की हिमायत करनेवाले इन उत्साही किन्तु गुमराह सुधारकों को कोसते रहें, या हमारी परंपरागत रूढियों को जरा पलटाकर समाज के आधारभूत सिद्धान्तों को फिर से जाँच कर देख लें और उन प्राचीन तथा जीर्णशीर्ण बने हुए तत्त्वों को मौजूदा बदली हुई तथा निरन्तर बदलती रहनेवाली परिस्थिति के अनुकूल बना लें? अगर हम यह करेंगे तो शाश्वत सिद्धान्तों के अनुसार हिन्दुस्तान की पुनर्रचना करने में हम जबरदस्त सहायता पहुंचावेंगे। दूसरे शब्दों में खुद भविष्य का भी यह तकाजा है कि वर्तमान परिस्थिति के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुकूल बनना चाहीए। इस तरह अपने आपको नई परिस्थिति के अनुकूल बनाने में तीन बातों की जरूरत होती है:-- बुद्धि की निराग्रहता, परिवर्तन-शीलता, और नई कल्पनाओं के ग्रहण करने की शक्ति। इन तीनों का फल अतीत की पुनः प्राप्ति भी हो सकती है। पर वह वर्तमान और भविष्य का अनुसंधान करने वाला अतीत होगा। इस भाषा को बदल कर सीधे शब्दों में हम यह कहेंगे कि इस समय यह निहायत जरूरी है कि हमें समाजवाद के सिद्धान्तों की बिलकुल समानचित्त से जांच कर लेनी चाहिए, इस दृष्टि से नहीं कि हम पश्चिमी देशों के पूरे नक्काल बन जावें और ऐसे नारे और उद्घोष लगाने लगें, बल्कि लाला भगवानदास के शब्दों में 'नई समस्याओं के प्राचीन हल' ढूंढ़ने की गरज से तथा भारतीय परम्परा के अनुसार देश का भाग्य-निर्माण करने की गरज से।

वृक्ष-शाखा न्याय

कांग्रेस और किसान-सभायें

[विनोबा का एक प्रवचन]

आप सब को यहां इकट्ठा देखकर मुझे खुशी हो रही है। मेरा यह बराबर अनुभव रहा है-और यहां के भाषण सुनकर और मतदान देखकर फिर वही अनुभव आया है-कि शहरियों की अपेक्षा देहाती अधिक बुद्धिमान होते हैं। शहरिये जड़ हैं। जड़ सम्पत्ति की सोहबत से जड़ बन गये हैं। यों ही मराठे राजनैतिक मामलों में सजग हैं। कांग्रेस की सत्ता के कारण वे और भी जाग्रत हो गये हैं।

मैं आज देहातों की जागृति के बारे में दो शब्द कहूंगा। आज कल किसानों के संगठन के लिये किसान-सभाएं वगैरा कायम की जा रही हैं। लोग मुझसे पूछते हैं "किसान-सभायें बन रही है, यह देखकर तुम्हें कैसा लगता है।?" मैं कहता हूँ "क्या मैं इतना जड़ हूं कि किसान-सभाओं की स्थापना से खुश न होऊं?" किसान-सभाएं बननी चाहिये, और गांव गांव में बननी चाहियें। लेकिन इसके सम्बन्ध में दो बातों पर ध्यान देना चाहिए। पेड़ की डाली जब तक उससे जुड़ी रहेगी तभी तक उसे पोषण मिलेगा। दूर होते ही वह तो सूख ही जायेगी पर पेड़ को भी नुकसान पहुँचायेगी। पचास साल पहले लगाये हुए जिस झाड़ की छाया में यह सभा हो रही है, उसे छोड़कर किसान-सभाएं यदि अलग हो जायेंगी तो उससे उनका तो नुकसान होगा ही, लेकिन पेड़ की भी हानि होगी। इसलिये किसानों का सारा संगठन कांग्रेस से अविरुद्ध ही होना चाहिए। कांग्रेस के अनुकूल से यह मतलब नहीं है कि वे सिर्फ अपने नाम में कहीं 'कांग्रेस' शब्द लगा दें। आजकल 'स्वराज्य' शब्द का महत्त्व

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। इसलिये कई संस्थायें उसे अपने नाम के साथ जोड़ देती हैं—जैसे 'वर्णाश्रम स्वराज्य संघ'। मेरा मतलब इस तरह की अनुकलता से नहीं है। 'कांग्रेस के अनुकूल' से मतलब यह है कि उनकी वृत्ति और दृष्टि अपने आन्दोलन से कांग्रेस की शक्ति बढ़ाने की होनी चाहिए।

कांग्रेस के हाथों में सत्ता आ गयी है, इसका क्या अर्थ है ? दही में से सारा मक्खन निकाल लेने पर सरकार ने मही का चौथाई हिस्सा हमारे लिए रख दिया है। यह चार आना मही ग्यारह प्रान्तों में बांट दिया गया है। उनमें से हमारी सत्ता सात प्रान्तों में है। याने ढ़ाई आने मही हमारे पल्ले में पड़ा है। आप पूछेंगे फिर हमने यह स्थिति क्यों मंजूर की ? मेरा जवाब है, "पच्चर लगाने के लिए"। भारत के बड़े-बड़े नेताओं ने निश्चय किया कि ब्रिटिश सत्ता की मयाल में यह जो ज़रासी दरार पड़ गयी है उसमें पच्चर लगा दी जाय। अगर इस उद्योग में पच्चर के ही टूट जाने का अंदेशा होता तो इस स्थिति का स्वीकार कदापि नहीं किया होता। लेकिन उन्हें विश्वास है कि उनकी पच्चर फौलाद की बनी हुई है। पर याद रहे, केवल पच्चर लगा देने से ही काम नहीं चलता। उस पर घन के वार भी मारने पड़ते हैं। हमारे आन्दोलन उस पच्चर पर लगायी जाने वाली घन की चोटें हैं।

इसलिए हमें आन्दोलन बड़ी कुशलता से करने चाहिए। जिन्हें हमने अपना मत देकर भेजा है, उनके काम में हमारे आन्दोलन से मदद ही पहुँचे इसकी सावधानी रखनी चाहिए। हमारी मांगें ऐसी हों और ऐसे ढंग से पेश की जायें कि हमारे प्रतिनिधि सोने तो न पावें लेकिन उनका बल भी किसी कदर कम न होने पावे।

मैं क्रोधी आदमी हूं। क्रोधी और सच्चे आदमी की जीभ अक्सर खुजाती है। तुकाराम का ऐसा ही हुआ था। उसने "मेरा तो मुंह खुजाता है," कहकर भगवान् को खूब खरी खरी बातें सुनायीं। मैं यह नहीं कहता कि किसान-सभा वाले कम जोर से बोलें, लेकिन तुकाराम के समान उनका जोर प्रेम का हो। तब उनका जोर उनके प्रेम का लक्षण माना जायगा। बिना प्रेम का जोर दिखाने का परिणाम यह होगा कि जिनसे हम सब एक होकर लड़ना चाहते हैं, वे सुरक्षित रहेंगे और जिन्हें हमने चुनकर भेजा है उनसे हम लड़ते रहेंगे।

लगन चाहे कितनी ही हो, लेकिन अगर बुद्धि चली गयी तो सब कुछ चला गया। बोलने में हमेशा विवेक रहे। हम जो कुछ कहें, उसके सबूत और अंक पेश करें। स्वराज्य लड्डू तो है; लेकिन मेथी का लड्डू है। उसमें ज़िम्मेवारी का कड़ुआपन है। हम स्वराज्य क्यों चाहते हैं ? —इसलिए कि अड़चनों को दूर करने के लिए अपनी बुद्धि चलाने का मौका हमें मिले। आज हमें कुछ भी नहीं करना पड़ता, इसलिये हम जड़ हो गये हैं। कल अंग्रेज़ यहां से अपनी फौज़ हटा लें तो हम मुसीबत में पड़ जायेंगे, लेकिन हम यह चाहते हैं। क्योंकि उस हालत में हमें अपनी बुद्धि चलाने का मौका मिलेगा। हमें जो गिलगिला भात दिया जा रहा है वह हम नहीं चाहते। हमें तो ज़रा करारी रोटी चाहिये। बुद्धिमत्ता के जो-जो क्षेत्र आज हमारे लिये बिलकुल बन्द हैं वे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थोडेबहुत खोल दिये गये हैं। इसलिए स्वराज्य की जिम्मेवारी का ख्याल रखकर किसानों को अपने आन्दोलन सोच विचारकर समझदारी के साथ चलाने चाहिए। अपने मुंह से निकलने वाले शब्दों को उन्हें तौल-तौल कर कहना चाहिए। "ब्रह्मवाक्य" के समान "किसान वाक्य" भी भाषा का मुहावरा बन जाना चाहिए। सब का यह विश्वास हो जाना चाहिए कि किसानों का वाक्य कभी असत्य या बेजवाबदार हो ही नहीं सकता। आज भी सरकार का हाथ कम मज़बूत नहीं है। खासा मज़बूत है। लेकिन उसे पकड़ने की हिम्मत हमने लोगों के बल पर की है। इसलिए लोगों के आन्दोलन जोश से भरे हुए, उत्साहवर्धक, लेकिन प्रेम-युक्त और विवेक तथा सत्य के अनुकूल, अपने प्रतिनिधियों की ताकत बढ़ाने की दृष्टि से होने चाहिए।

जो मैं पहले कह चुका हूं उस पर ध्यान दीजिये। शाखा मूल वृक्ष से लगी हुई रहे। अन्यथा दोनों का नुकसान होगा। सब किसानों को और दूसरों को कांग्रेस के सदस्य बनना चाहिए। चार आने चन्दा अधिक है ऐसी शिकायत न कीजिये। एक साल चार आने फेंक दीजिये, अपना बहुमत कर लीजिये और चन्दा कम कर दीजिये। अगर सदस्यों की संख्या बीस गुनी बढ़ जाय तो चन्दा घटाने में क्या हानि है? लेकिन अगर किसान काँग्रेस के सदस्य नहीं बनेंगे तो उनके आन्दोलन सूख जायेंगे।

बाबासाहेब ने मुझसे कहा कि आज की सभा में बैठाकर आपको खासा सबक सिखाया गया। उनका मतलब दूसरा था। वे कहना चाहते थे कि मुझे खासा पाठ पढ़ाया गया—याने सज़ा मिली। लेकिन मैंने दूसरा ही अर्थ लिया। दरअसल आज मैंने बहुत अच्छा सबक सीखा — बहुतकुछ शिक्षा पायी। रामदास ने कहा था कि आन्दोलन में सामर्थ्य है। लेकिन हम समझ बैठे हैं कि केवल कलबलाने में ही सामर्थ्य है। आजकल की हमारी सभायें निरी कलबलाहट होती हैं। एक समय था, जब कि काँग्रेस सरकार के सामने केवल शिकायतें पेश करने वाली संस्था थी। उस समय वह भी शोभा देता था।

"जिमि बालक करि तोतरि बाता।
सुनहिं मुदित मन पितु अरु माता॥"

लेकिन बडे होने पर? चालीस साल के बाद भी अगर हम फिर 'यह दीजिये,' 'वह दीजिये,' 'यह नहीं हुआ' 'वह नहीं हुआ,' आदि शिकायतें ही सरकार के सामने पेश करते रहें तो तब और आज की हालत में अन्तर ही क्या रहा? 'यह दीजिये,' 'वह दीजिये,' — लेकिन 'दीजिये' कहां से? असली सत्ता अर्थात् ग्रामसंगठन। जनता की शक्ति बढ़नी चाहिए। रो धोकर भीख मांगने से थोडे ही वह बढेगी? हिन्दुस्थान की आर्थिक तबाही अंग्रेजों के व्यापार के कारण हुई है। जबतक देहातों की शक्ति नहीं बढेगी, हिन्दुस्थान श्रीमान् कैसे होगा? 'लगान माफ़ करो, लगान माफ़ करो' कह कर अपने दुखडे रोने से क्या होगा? काँग्रेस की बदौलत हमें आन्दोलन करने के लिये सहारा, आश्वासन और सुयोग प्राप्त हुआ है। इससे अधिक कुछ नहीं हुआ है। लेकिन हम तो मानो यही समझने लगे हैं कि जैसे हम मुकाम पर ही पहुँच गये हों। वनचराई माफ़ हो गयी, राजाजी को खादी के लिए दो लाख रुपये मिल गये। हम समझे बस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब तो मुकाम आ ही गया। इसी को मैं कलबल कहता हूं। खादी के लिए दो लाख? अजी दो सौ करोड़ भी बस नहीं होंगे। सारे देश को खादीमय बनाना है वहां दो लाख से क्या होगा? लेकिन यह काम कोई भी सरकार नहीं कर सकती। उसे लोगों को ही करना चाहिए।

हमारे देहाती लोग शहरियों से अच्छी तरह लडते भी तो नहीं। देहाती चीजों के भाव बहुत गिर गये हैं। शहरी चीजें महंगी बिकती हैं। देहातियों को चाहिए कि वे शहराती दूकानदार से कहें "घडी के दाम बीस रुपये बताते हो, दो रुपयों में दे दो। मेरा मक्खन छह आने सेर मांगते हो? तीन रुपये सेर दूंगा। उसके लिए मुझे इतनी मिहनत और खर्च जो करना पड़ा है।"

देहातों को सहयोग से पूंजी जुटाकर भांति भांति के उद्योग शुरू करने चाहिए। इस के लिए कोई रुकावट नहीं है। सरकार से तुम्हें उचित संरक्षण मिल सकता है। यदि हम ऐसा कुछ करेंगे तो हमारी हलचलें 'आन्दोलन' के नाम को पात्र होंगी। वरना वे सारी हलचलें निरी कलबलाहट और हडबडाहट ही सिद्ध होंगी। हरएक गांव को एक छोटासा राष्ट्र समझ कर वहां की सम्पत्ति बढ़ाने का सामुदायिक दृष्टि से विचार होना चाहिए। गांव के आयात और निर्यात पर गांव की चौकी चाहिए। जब हम ऐसा करेंगे तभी हम अपनी सरकार को बल-प्रदान करेंगे, वरना हमारे आन्दोलन फिजूल हैं।

('ग्रामसेवावृत्त' से अनूदित)

व्यापार की प्रतिष्ठा कैसे बढेगी?

[नरहरि द्वा. परीख]

गांधीजी को लोग संत, तपस्वी, देश-नेता, समाज-सुधारक, महात्मा आदि अनेक नामों से पहचानते हैं। कोई उनके राज-नैतिक कौशल के लिए उनपर न्यौछावर होते हैं, तो कोई उनकी इसलिए प्रशंसा करते हैं कि वे पीडितों और दलितों के वाली हैं। उनके जीवन को देखते हैं, तो पता चलता है कि उन्होंने जो बडे बडे गुण विकसित किये हैं और सिद्धियां प्राप्त की हैं, उनके लिए काफी साधना भी की है। परन्तु साधना के बगैर भी जो चीज उनमें मानो सहजसिद्ध सी है, वह तो है सत्य। सत्य तो उनमें शुरू से ही है। शायद उन्हें याद भी नहीं होगा तब से वे सत्य की उपासना करते आये हैं, और सत्य का आग्रह भी रखते आये हैं। हम जो उन्हें "महात्मा गांधी" कहते हैं वह उन्हें खलता है। इस विशेषण से कई बार उन्हें ग्लानि हो आती है। और अनेक-बार वे अपने महात्मापन का मजाक भी उडाते हैं। पर अगर इसके बदले उन्हें कोई सत्याग्रही गांधी कहने लग जाय, तो शायद वे उसे बहुत पसंद करें और उसको स्वीकार भी कर लें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आपने उनकी आत्मकथा तो पढी ही होगी। इस महाविद्यालय में पढनेवाले प्रत्येक विद्यार्थी को हमारे साहित्य की यह अनुपम पुस्तक तो जरूर पढ लेनी चाहिए। उसमें आपने देखा होगा कि ठेठ बचपन से उन्हें अनेक प्रकार के अनुभव हुए हैं। मेहतर से छूनेपर आदमी को नहा लेना चाहिए यह उनकी माताजी की सिखावन थी। उसके प्रति उनके हृदय में जो विरोध खडा हुआ था वह, बीडी के ठूंठ की चोरी, नौकर के जेब से पैसा चुरा लेना, अन्त में उनके भाई के कडे में से सोना काटने में सहायक होने का गुनाह, चुरा कर मांस खा लेना, वेश्या के घर चले जाना, आदि तरह के अनुभव उन्हें चौदह पन्द्रह वर्ष की उम्र में ही हो गये थे। मांसाहार और वेश्या के घर पर जाना ये दो अनुभव कुछ बिरले से हैं। यों चोरी जैसे अनुभव तो लगभग प्रत्येक बच्चे को होते हैं। पर इन तमाम अनुभवों से सबक सीखकर वे आगे बढ सके हैं। और इन अनुभवों को अपने विकास का जो साधन वे बना सके, यह उनकी सत्यनिष्ठा का ही प्रताप है।

* * * *

आज गांधीजी को संसार उनकी अहिंसा के संदेश के कारण ही इतना जान पाया है। हिंसा से अभिभूत संसार को सक्रिय अहिंसा का मार्ग दिखाने वाले की हैसियत से वह उनकी ओर आशाभरी नजर से निहार रहा है। अहिंसक प्रतिकार को इतने विशाल पैमाने पर आजमाने का उनका यह प्रयोग बिलकुल नवीन है। उन्होंने यह दिखा दिया है कि दुष्टता का प्रतिकार हिंसा की अपेक्षा अहिंसा द्वारा अधिक परिणामकारक रीति से किया जा सकता है। परन्तु इसके लिए उन्हें उग्र साधना करनी पडी है। यह नहीं कहा जा सकता कि वे स्वभावतः ही अहिंसक हैं। उन्होंने अपने क्रोध को बहुतकुछ वश में जरूर कर लिया है। परन्तु फिर भी उनके अतिशय निकट संपर्क में रहने वाले लोग जानते हैं कि अब भी उनका स्वभाव कितना तेज है और उनका क्रोध कितना उग्र होता है। यद्यपि क्रोध के आवेग के आते ही वे उसे दबा देते हैं परन्तु फिर भी जाते जाते उनकी आंखों से उस की झलक तो प्रकट हो ही जाती है। अर्थात् हम यह कह सकते हैं कि अभी अहिंसा उन्हें पूर्णतया सिद्ध नहीं हो पाई है। परन्तु असत्य का तो उन्हें ख्याल भी नहीं आता होगा। उनकी यह अहिंसा सत्य की उपासना से ही पैदा हुई है। सत्य की उपासना---सत्य का आग्रह---अहिंसा के बगैर हो ही नहीं सकता, इस प्रतीति में से उनकी अहिंसा की साधना का जन्म हुआ है।

दूसरी तरफ देखते हैं तो ज्ञात होता है कि आज की सरकारें ऐसे ऐसे और इतने हिंसक साधनों से सज्ज हैं कि उस क्षेत्र में किसी भी देश की प्रजा के लिए उनका मुकाबला करना असंभव हो गया है। जो सरकारें जनता की कही जाती हैं, उनपर भी आज जनता का कोई अधिकार नहीं है। संसार में सर्वत्र लष्कर-शाही का साम्राज्य है। अबीसीनिया, स्पेन, चीन और चेकोस्लोवाकिया के उदाहरणों से यह साफ है कि आज संसार में कोई भी छोटा या सामरिक शक्ति में कमजोर राष्ट्र सुरक्षित नहीं है। यही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्यों ? विपुल सामरिक शक्तिशाली राष्ट्र भी तो निरन्तर एक दूसरे से डरते ही रहते हैं। क्योंकि आ मण के साधनों की जितनी वृद्धि हो गई है, उतनी बचाव के साधनों की नहीं। इसलिए बलवान समझे जाने वाले राष्ट्रों की भी आज यह हालत है कि अगर कहीं युद्ध छिड गया तो हवाई जहाजों तथा जहरीली वायु से वे अपने प्रजाजनों का रक्षण नहीं कर सकते। इसलिए प्रजाजनों की स्वतंत्रता तथा सुरक्षा के लिए, समाज में न्याययुक्त शासन-तंत्र की स्थिरता के खातर, तथा संसार की शान्ति के लिए, आज उसे हिंसात्मक युद्ध को छोड किसी दूसरे उपाय की नितान्त आवश्यकता प्रतीत हो रही है। और ऐसा मार्ग गांधीजी ने संसार को दिया है यही उनकी महत्ता है। यों तो अहिंसा का सिद्धान्त युगों पुराना है। परन्तु उसका अवलम्ब आज तक तो अधिक से अधिक परिवार और स्नेही जनों तक ही सीमित रहा है। विशाल क्षेत्र में और हिंसक विरोध के प्रतिकार में उसका किस प्रकार उपयोग किया जा सकता है यह तो गांधीजी की ही देन है।

गांधीजी की अहिंसा का एक दूसरा सिद्धान्त यह है कि हर प्रकार के अन्याय और जुल्म का प्रतिकार अहिंसा के द्वारा जरूर किया जा सकता है और ऐसा प्रतिकार अवश्य करना धर्मरूप है। यदि मनुष्य अपने प्रति अथवा अपनी आंखों के सामने दूसरों पर अन्याय होते देखता रहे या सह ले, तो वह अहिंसा का सच्चा अनुयायी नहीं कहा जा सकता। इस तरह गांधीजी की अहिंसा पंगु नहीं, बल्कि सक्रिय है। यह बात दूसरी है कि अभी उसका इतना प्रयोग नहीं हो पाया है कि जितना होना चाहिए, और इसलिये यह नहीं कह सकते कि उसकी पूरी कसौटी हो चुकी है। परन्तु गांधीजी का तो यही दावा है कि यदि जनता को इस सिद्धान्त की पूरी पूरी शिक्षा और तालीम दी जाय, तो वह किसी भी सरकार या विरोधी का मुकाबला कर सकेगी फिर वे चाहे कितने ही शस्त्रास्त्रों से सज्ज हों। परन्तु इस अहिंसात्मक उपाय को पहले हमें अपने ही देश में सिद्ध करके दिखा देना चाहिए। फिर संसार में इसका प्रचार होने में देरी नहीं लगेगी।

यह तो प्रतिकार के उपाय की बात हुई। परन्तु आज संसार के वक्षस्थल पर जो युद्ध की विभीषिका फैली हुई है उसका असली कारण तो व्यापारिक स्पर्धा है। जो देश यंत्र-सामग्री में आगे बढे हुए हैं, वे अपने यहां अपनी निजी जरूरतों से कहीं अधिक माल पैदा करते रहे हैं। और फिर इस माल को खपाने के लिए वे बाजार ढूंढने लगते हैं। प्रत्येक राष्ट्र चाहता है कि वह पिछडे हुए देशों पर कबजा कर ले और वहां जो कच्चा माल हो रहा है उसे कौडी मोल में खरीदकर पुनः तैयार माल उसी देश के मत्थे मढ़ता रहे। अपने देश में संचित पूंजी को इन दूसरे देशों में लगाकर वहां के मज्दूरों को भी चूसे और वहां के किसानों को लूटे। हमारे आज के सभापतिजी (बैंक ऑफ इंडिया की अहमदाबाद वाली शाखा के एजन्ट मि. क्लर्क) ने अपने भाषण में कहा है कि मुझे किसी राजनैतिक पक्ष से कोई वास्ता नहीं है। मैं तो एक निरा बैंकर हूं। पर अगर आप जरा गहराई में उतर कर देखेंगे तो आपको

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

079815

फौरन पता चल जायेगा कि असली सत्ता इन बैंकरों के ही हाथों में होती है। कहते हैं कि इंग्लैंड और अमेरिका में काँग्रेस और पार्लमेन्ट के चुनावों में असली सूत्र-संचालक तो वहां के बैंकर और पूंजीपति ही होते हैं। राजपुरुष और सेनानायक तो बेचारे उनके नचाये नाचने वाले हैं। बडे बडे व्यापारी, उद्योगपति, पूंजीपति, और बैंकर ही संसार के असली शोषक हैं और तमाम युद्ध उन्हीं के स्वार्थ के लिए लडे जाते हैं। व्यापारिक स्पर्धा और जनसाधारण का शोषण यह संसार की सारी बीमारियों की जड है। इन्हें दूर करने के लिए गांधीजी का नुसखा है – स्वदेशीधर्म। इसके पालन से व्यापारिक स्पर्धा और शोषण के लिए अवकाश ही नहीं रहता। इसके पालनार्थ गांधीजी ने हमारे देश के सामने खादी और ग्रामोद्योग का कार्यक्रम पेश किया है। उसकी तफसीलों में मैं यहां नहीं उतरूंगा; पर चूंकि आप व्यापारी महाविद्यालय के विद्यार्थी हैं, इसलिए इतना तो जरूर कहूंगा कि आपकी व्यापारी विद्या की पढ़ाई के सदुपयोग के लिए खादी और ग्रामउद्योगों में काफी विशाल क्षेत्र आपके सामने खुला हुआ हैं। पर यहां की पढ़ाई खतम करके अगर आप शोषक वर्ग की बडी बडी दूकानों पर गुमाश्तागिरी करने लग जायं, या एक पाई के माल का रुपया किस प्रकार वसूल किया जाय इसतरह का जो व्यापार यहां चल रहा है उसमें आप पड़ जायं, तो इसमें तो हमारे देश की हानि ही होगी। हमारे व्यापारियों में से बहुत से तो केवल विदेशी व्यापारियों के दलाल होते हैं। फिर आजकल के व्यापार का अधिकांश भाग तो कई मर्तबा अत्युक्तिपूर्ण और कई बार लगभग झूठे विज्ञापनों के आधार पर चल रहा है। विज्ञापनों को आकर्षक किस प्रकार बनाया जाय, आदमी को किसी चीज की जरूरत हो या न भी हो, फिर भी उसका मन जरूर ललचा जाय इसलिए विज्ञापन-दाताओं का सारा प्रयास होता है। शायद इस शास्त्र की भी आपको यहां शिक्षा दी जाती होगी। परन्तु आजकल के निकम्मे व्यापार ने और झूठे विज्ञापनों ने देश को जबरदस्त नुकसान पहुंचाया है। इसलिए ऐसी बातों को छोडकर उसके बदले आप सच्चे और ऐसे व्यापार की शिक्षा यहां लें जिसकी समाज को दरअसल जरूरत हो। हमारा देश ग्राम-प्रधान है। इसलिए आप यह सीखें कि हमारे गांवों के लिए कौनसा और किस प्रकार का व्यापार पोषक होगा।

रस्किन ने अपनी 'अन्टु दिस लास्ट' नामक पुस्तक में 'दि रूट्स ऑफ ऑनर' - 'प्रतिष्ठा की जड' – शीर्षक एक अध्याय लिखा है। उसमें उसने लिखा है कि सिपाही का पेशा जनता की रक्षा के लिए, धर्मोपदेशक का पेशा उसे धर्म की शिक्षा देने के लिए, वैद्य का पेशा उसके आरोग्य की रक्षा के लिए और वकीलों का पेशा जनता को न्याय की प्राप्ति करा देने के लिए है। इसी प्रकार व्यापारी का पेशा इसलिए है कि वह जनता को उसकी जरूरत की चीजें जुटा दे। और इन तमाम पेशेवरों का कर्तव्य है कि वे अपने पेशे के धर्म के पालन में अगर जरूरत पड़ जाय तो अपने प्राण भी अर्पण कर दें। युद्ध से भागने की अपेक्षा सिपाही वहीं मर जाना मंजूर करेगा। जहां रोग भीषण रूप में फला हुआ हो, वहां से अपना स्थान छोड़कर भागने की अपेक्षा वैद्य भी अपनी जान खतरे में डालकर बीमारों की शुश्रूषा करता रहेगा। असत्य का उपदेश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने के बजाय धर्मोपदेशक मरना मंजूर कर लेगा। अन्याय सह लेने की अपेक्षा वकील मरते दम तक लड़ता रहेगा। पर व्यापारी क्या करेगा? क्या उसे भी अपने पेशे के खातिर और उसी में कभी अपने प्राण अर्पण कर देने का मौका आता है?

सिपाही, धर्मोपदेशक, वकील, डॉक्टर, ये सब समाज में आदर की दृष्टिसे देखे जाते हैं। क्यों कि उन में जो सच्चे होते हैं वे अपने कर्तव्य के लिए मरना जानते हैं। जो यह नहीं जानता कि उसे कब मरना चाहिए वह जीना भी नहीं जानता। परन्तु व्यापारी के विषय में लोगों का यही ख्याल है कि वह केवल एक बात जानता है—ग्राहकों से अधिक से अधिक पैसा किस प्रकार लिया जाय? उसकी सारी प्रवृत्ति नफे को सामने रखकर ही होती है। और इसीलिए समाज में व्यापारी कभी आदर की दृष्टि से नहीं देखे गये हैं। यह नहीं कि दूसरे लोग अपने काम की मज्दूरी न लेते हों। परन्तु उनका ध्येय नफ़ाखोरी नहीं होता। उनके सामने प्रधान वस्तु होती है अपना कर्तव्य, तहां व्यापारी का तो ध्येय होता है केवल नफा। युद्ध हो, अकाल हो, मंदी हो, वह तो हर समय जहां मौका मिला लोगों को चूसता ही है। परन्तु रस्किन तो कहता है कि व्यापारी का सच्चा काम यह है कि समाज को आवश्यक–अर्थात् उसे सचमुच जिन वस्तुओं की जरूरत हो वे–जुटा दे। व्यापारी अपना यह धर्म अच्छी तरह समझ लें, अपने ज्ञान और चातुरी का उपयोग वह अच्छे से अच्छा माल उत्पन्न करने तथा जहां उसकी जरूरत हो उसे यथा सम्भव सस्ते मूल्य में देने में करे, और यह करते हुए यदि बरबाद होना पडे या अपने प्राण अर्पण कर देने पडें, तो उसका भी खुशी खुशी स्वागत करे। तब समाज व्यापारी को भी आदर और सन्मान की दृष्टि से देखने लग जायगा। मैं परमात्मा से प्रार्थना करता हूं कि वह आप को रस्किन की यह सिखावन समझने तथा गांधीजी के जीवन से प्रेरणा पाकर उसे अपने आचरण में परिणत करने की शक्ति दे।

इसलिए आचारधर्म का सुवर्णसूत्र है परस्पर–सहिष्णुता। क्योंकि यह असंभव है कि हम सब एक ही तरह विचार करें। हम तो अपने विभिन्न दृष्टिकोणों से सत्य को अंशतः ही देख सकते हैं। सद्सद्विवेक–बुद्धि सब के लिए एक ही वस्तु नहीं होती। इसलिए वह व्यक्तिगत आचरण के लिए बहुत अच्छा पथदर्शक जरूर है। लेकिन उस आचार को बलपूर्वक सब लोगोंपर लादना व्यक्ति मात्र के बुद्धि–स्वातंत्र्य में अक्षम्य और असह्य हस्तक्षेप है।

—गांधीजी.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्वोदय और साम्यवाद

[हरिभाऊ उपाध्याय]

मानव-समाज में जो अशान्ति और विषमता फैली हुई है, उसके दो उपाय पेश किये जाते हैं, एक 'साम्यवाद', दूसरा 'सर्वोदय'। 'साम्यवाद' अथवा 'कम्युनिजम' को वैज्ञानिक और शास्त्रीय रूप कार्लमार्क्स ने दिया। उसका आदर्श है वर्गहीन समाज की स्थापना करना। 'सर्वोदय' शब्द के जन्मदाता और उसके आदर्श के प्रचारक हैं गांधीजी। उसका अर्थ है सबकी उन्नति, सब का समान हित। वर्गहीन समाज की कल्पना के मूल में समता का सिद्धान्त काम कर रहा है। एक दूसरे की प्रतिस्पर्धा करने वाले, एक दूसरे को शोषण करने वाले वर्ग समाज में न रहें, बल्कि सब लोगों का एक ही वर्ग हो और वह हो मानववर्ग। संपत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्व रहने से परस्पर प्रतिस्पर्धा और शोषण की वृत्ति जागती और बढ़ती है, इसलिए समाज में से सम्पत्ति पर से, अर्थात् उत्पत्ति के साधनों पर से, व्यक्तिगत स्वामित्व की प्रथा हटा दी जाय, यह साम्यवादियों का मुख्य आग्रह है। ऐसा समाज कैसे बने? इसका उत्तर साम्यवादी देते हैं कि पहले जिस तरह होसके राजनैतिक सत्ता प्राप्त की जाय। श्रमजीवियों की डिक्टेटरशिप कायम करके फिर उसके बल पर आदर्श समाज का निर्माण किया जाय। वे मानते हैं कि राजनैतिक सत्ता प्राप्त करने के लिए हमें हिंसात्मक बल से काम लिये बिना कोई चारा ही नहीं है।

सर्वोदय के आदर्श में भी मूल भावना यह है कि समाज से विषमता, शोषण का अन्त हो। हाँ, उसकी विधि में भेद है। गांधीजी का यह दृढ़ विश्वास है कि यदि हमें समाज से हर प्रकार के शोषण को जड़मूल से मिटाना है, तो हमें व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में अहिंसा को सर्वप्रथम और सर्वोच्च स्थान देना ही पड़ेगा। हिंसा के माने हैं, दूसरे को दबाकर उसे कोई काम करने के लिए मजबूर कर देना। अहिंसा का मतलब है दूसरे के हृदय को अपनी सद्भावना और प्रेम से, आवश्यकतानुसार स्वयम् कष्ट सहकर, जीतना, अपने अनुकूल बना लेना। शोषण में भी हिंसा का ही भाव है, बिना किसी न किसी प्रकार की हिंसा का आश्रय लिये कोई किसी का शोषण नहीं कर सकता। शोषण का अर्थ है न्याय और धर्म-पूर्वक जिस वस्तु को पाने का मुझे अधिकार नहीं है, उसे छल-बल और कौशल से अपने अधिकार में ले आना। सीधे रास्ते खुले तौर पर जो चीज़ मुझे नहीं मिल रही है, जिसके लिए मुझे कुछ टेढ़ा, कुछ गुप्त या अप्रत्यक्ष मार्ग का अवलंबन करना पड़ता है, वह शोषण है और उसमें हिंसा ही है। इसलिए गांधी जी का कहना बिलकुल सही है कि यदि शोषण को मिटाना है तो पहले हिंसा को मिटाओ; अर्थात् किसी भी रूप में, सूक्ष्म रूप में भी, हिंसा को आश्रय मत दो। गांधीजी की यह राय बहुत सही है। साम्यवादियों की तरह यह भी ज़रूरी नहीं कि आदर्शसमाज की रचना के लिए राजनैतिक सत्ता पहले जरुरी है, क्योंकि राजनैतिक सत्ता के मूल में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी कुछ तो हिंसा रही ही है । फिर बिना राजनैतिक दबाव के जो रचनात्मक काम होगा वह अधिक शुद्ध और स्थायी होगा । उनका राजनैतिक आदर्श राम-राज्य है, जिसे उन्होंने भलमन्सी और न्याय का राज्य कहा है । वे ऊपर से लादी हुई डिक्टेटरशिप को नहीं पसंद करते । उससे जनता का स्वतंत्र विकास न होगा । इसलिए उनकी कल्पना के राज्य-संचालकों की योग्यता की कसौटी उनकी सेवा, त्याग, तप के द्वारा प्राप्त जनता का हार्दिक प्रेम और आदर होगा । वे अन्दर से विकास करने के हामी हैं । यही विकास का असली मार्ग है और यह अहिंसा के ही द्वारा साध्य हो सकता है ।

साम्यवादियों का यह कहना कि पहले संगठित हिंसा द्वारा राजनैतिक सत्ता प्राप्त कर लें, पीछे उसके द्वारा समाज में हिंसावृत्ति को मिटा दिया जायगा, समझ में नहीं आता । ज़रा कल्पना कीजिए कि किसी हिंसाबल से सुरक्षित राज्यसत्ता को हाथ में लेने के लिए उससे बढ़कर हिंसाबल प्राप्त करना और उसे सुसंगठित करना होगा । फिर दूसरे आसपास के राष्ट्रों के आक्रमण से बचने के लिए उस सुसंगठित हिंसाबल को कायम भी रखना होगा । अहिंसा के द्वारा समाज और राष्ट्र की रक्षा कर सकने पर विश्वास न होने के कारण न तो हम ही हिंसाबल को छोड़ सकेंगे या कम कर सकेंगे; और न आसपास के राष्ट्रों पर ही ऐसा असर डाल सकेंगे; जिसका फल यह होगा कि हम कभी भी, या दीर्घ काल तक, हिंसाबल के आश्रय से अपना छुटकारा न कर सकेंगे । फिर हमारे हिंसा-काण्डों की प्रतिक्रियारूप जो प्रतिहिंसा हमारे विरोधियों और हमसे हताहत हुए लोगों के हमदर्दियों में जाग्रत होगी, वह हमें कभी हिंसाबल से मुक्त न होने देगी । हिंसाबल से मुक्त होने की तरफ हम उसी अवस्था में बढ़ सकते हैं, जब हम सचमुच हिंसा और अहिंसा-पद्धतियों के गुणदोष का परीक्षण और तुलना करके इस निश्चय पर पहुंच जायँ कि सचमुच हिंसाबल हेय और त्याज्य है और अहिंसाबल श्रेय और अभिनन्दनीय । मेरी समझ में थोडी भी बुद्धि रखने वाला आदमी इसका निर्णय आसानी से कर सकेगा ।

हिंसा से अहिंसा श्रेष्ठ है; हिंसा से अहिंसा की नैतिक योग्यता बहुत बढी-चढी है, इसे तो हरकोई स्वीकार कर लेगा । परन्तु जो बात किसी को दुविधा में डाल देती ह वह यह शंका है कि क्या अहिंसा हिंसा से ज्यादा कार्य-साधक, सहजसाध्य, और व्यवहारयोग्य भी है ? जो जो काम आज मनुष्य हिंसा – बल से निकाल लेता है वे सभी क्या अहिंसा-बल से निकाले जा सकते हैं ? गांधीजी का उत्तर है कि 'यदि नहीं निकाले जा सकते तो अहिंसा किसी काम की चीज नहीं ।' उनकी यह दृढ़ श्रद्धा है कि अवश्य निकाले जा सकते हैं । इतना ही नहीं बल्कि हिंसा की बनिस्बत ज्यादा अच्छी तरह से और थोडे समय के अन्दर । हाँ, यह सही है कि शुरू में अहिंसाबल उतनी तेजी से सफल होता हुआ नहीं दिखाई देता, जितना कि हिंसा-बल । परन्तु जहाँ एक बार अहिंसा की विजय शुरू हुई कि उसमें तब तक पराजय का काम नहीं जब तक कि हम अहिंसापथ पर सच्चाई के साथ डटे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुए हैं। यह सच है कि अहिंसात्मक प्रतिकार या संग्राम का विधि-विधान अभी इतना व्यापक और तफसीलवार नहीं बन पाया है जितना कि बरसों के अभ्यास के कारण हिंसात्मक युद्ध का शास्त्र बन चुका है। परन्तु इसमें कोई शक नहीं कि कम से कम भारतवर्ष में एक बहुत बडा दल ऐसे लोगों का बन गया है, जिनकी बुद्धि को यह विश्वास हो चुका है कि हिंसा की तरह अहिंसात्मक प्रतिरोध भी सफल हो सकता है। जैसे जैसे प्रसंगानुसार हम अहिंसात्मक बल का प्रयोग और अभ्यास करते जायंगे, वैसे वैसे उसका शास्त्र भी अपने आप तय्यार होता चला जायगा। हम इसपर जितना ही विचार और मनन करेंगे, हमें इसमें एक दिव्य भविष्य की झलक दिखाई पडेगी। यदि हमारी बुद्धि ने सचमुच अहिंसा की श्रेष्ठता और उपयोगिता को ग्रहण कर लिया है, तो हमें उसके प्रयोग से नित-नूतन आश्चर्यों का अनुभव हुए बिना न रहेगा। जैसे जैसे यह अनुभव होगा वैसे वैसे हमारी श्रद्धा और भी दृढ होती जायगी। अहिंसा की साधना केवल कवायद से नहीं हो सकती। चित्त-वृत्ति को ही निर्मल, निःस्वार्थ, निरभिमान, राग-द्वेष से हीन बनाने की जरूरत है। इसीमें से अमोघ बल उत्पन्न होता है और उसके प्रयोग के पथ पर भी प्रकाश पडता जाता है। गांधीजी किसी किताब को पढ़कर हमें अहिंसात्मक संग्राम का मार्ग-दर्शन नहीं कराते हैं। अपने चित्त को उन्होंने अहिंसामय बना लिया है। इसलिए उन्हें फौरन ही उसका सरल मार्ग सूझ जाता है। हम भी तभी गांधीजी के सच्चे अनुयायी कहला सकते हैं, जब खुद अहिंसा के इस दिव्य प्रदेश में पहुंचकर उसकी करामात से जनता को परिचित और प्रभावित करें। ऐसे प्रयोगों से ही अहिंसा-शास्त्र का निर्माण होगा।

हिंसात्मक और अहिंसात्मक बलों पर भरोसा रखनेवाले लोगों की मान्यता में एक बडा भेद दिखाई पडता है। एक को मनुष्य-प्रकृति की मूलभूत सत्प्रवृत्ति पर विश्वास है तो दूसरे को उसमें अविश्वास या शंका है। जिसको विश्वास है वह तो निराशा और हतोत्साह होने के अवसर पर भी अपने अन्तरस्थ प्रेम पर अटूट भरोसा रखकर अपना प्रयोग करता चला जायगा। और अन्त में देखेगा कि सामनेवाले का हृदय बदल गया है। अब वह विरोधी नहीं, उसका मित्र हो गया है। क्योंकि उसका झगडा व्यक्ति से नहीं, व्यक्ति के अवगुणों से और कुप्रवृत्तियों से है। इसलिए वह समूचे व्यक्ति का नाश नहीं चाहता क्योंकि ऐसा करना उस व्यक्ति के गुणों और शक्तियों का भी नाश करना है, जो कि समाज की एक बडी हानि और एक जबरदस्त हिंसा है। इसके विपरीत जो व्यक्ति यह मानता है कि मनुष्य प्रधानतः स्वार्थी है, दबकर ही वह किसी अच्छे काम में प्रवृत्त होता है, वह अहिंसा की महत्ता को सहसा नहीं समझ सकता और उसकी उपयोगिता को भी अनुभव नहीं कर सकता। कम्युनिस्ट और गांधीवादी के विश्वासों में जो बडा अन्तर मालूम होता है वह यही कि गांधीवादी मनुष्य-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकृति की मूलभूत सत्प्रवृत्ति को मानता है और कम्युनिस्ट इस विषय में अविश्वास-शील या शंकाशील है।

इसका कारण मुझे यह मालूम होता है कि कम्युनिस्टों का अनुभव और अवलोकन सीमित और एकदेशीय है, वहाँ गांधी-वाद की जड में एक बडा आध्यात्मिक तत्त्व, हजारों वर्षों की साधना, अनुभव और अवलोकन भरा हुआ है। यह सही है कि सामाजिक और राष्ट्रीय पैमाने पर अहिंसा को एक बल और अस्त्र के रूप में संगठित कर के उसके प्रयोग करने का उपक्रम संसार के इतिहास में गांधीजी ने ही पहली बार किया है। परन्तु इसकी मर्यादित सफलता ने भी दुनिया को यह दिखा दिया है कि अहिंसा हिंसा का स्थान राष्ट्र के आन्तरिक और बाहरी झगडों को निबटाने में जरूर ले सकती है। अहिंसा की विजय का आधार मनुष्य की चित्त-शक्ति में है, जहाँ कि हिंसाबल का आधार शरीर है। ज्यों ज्यों हम चित्त-शक्ति क साम्राज्य में प्रवेश करते जायंगे त्यों त्यों हमें अहिंसा के चमत्कार और बल का अनुभव होता जायगा। जरूरत इस बात की है कि हम चित्त-प्रदेश में शोध और प्रयोग करें। यदि कम्युनिस्टों या सोशालिस्टों की समझ में अहिंसा की निरपवाद उपयोगिता बैठ जाय, तो फिर 'सर्वोदय' और 'साम्यवाद' की कल्पना में कोई कहने लायक अन्तर नहीं रह जायगा, बल्कि 'साम्यवाद' या 'वर्गहीन समाज' की जगह 'सर्वोदय' शब्द अधिक सार्थक और भावात्मक दिखाई देगा।

देवों का काव्य

[काका कालेलकर]

"मेरे लिए ये नक्षत्र ईश्वर के साथ अनुसंधान करने का एक साधन बन गये हैं। वे आश्रमवासियों के लिए भी बनें।"

१९३२ में गांधीजी ने यरवडा जेल में आकाश के नक्षत्रों का कुछ अध्ययन किया। और उसके साथ साथ आकाशदर्शन करते हुए जो विचार उनके मन में आये वे उन्होंने एक दो पत्रों में व्यक्त किये। उनमें से ऊपर का उद्धरण दिया है। इन पत्रों में गांधीजी ने जो लिखा है उसका सार यह है:—

"सत्य के पुजारी के रसों का अन्त ही नहीं होता। जिस ज्ञान से मैं सत्यदेव के अधिक नजदीक पहुंच सकता हूं, उसके पीछे पडने में मेरा बुढापा कभी बाधक नहीं होता। बाह्य दृष्टि से जहां सहजरूप से ईश्वर है उसका निरीक्षण मैं क्यों न करूं? ईश्वर की महान् लीला देखने का यह मौका मैं क्यों गुमा दूं?

"आकाश याने अवकाश। हमारे शरीर में अगर अवकाश न रहे तो हम एक क्षण भी जी नहीं सकते। जो बात शरीर के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बारे में, वही जगत के बारे में भी समझनी चाहिए। यह पृथ्वी अनन्त आकाश से घिरी हुई है। पृथ्वी का व्यास ७,९०० मील है। किन्तु आकाश के व्यास का अन्त ही नहीं। इस अनन्त आकाश में पृथ्वी तो एक रजःकण जैसी है। इस रजःकण पर रहने वाले हम मनुष्य, रजःकण के तुच्छ रजःकण हैं। इसका हिसाब भी लगाना कठिन बात है। हम शरीररूप से केवल शून्यवत् हैं ऐसा कहने में न तो अतिशयोक्ति है न अल्पोक्ति। यह तुच्छ शरीर अगर गिर जाय तो इसका मोह क्यों ?

"यह शरीर इतना तुच्छ होते हुए भी उसकी कीमत बहुत बडी है; क्योंकि वह आत्मा का – और अगर हम समझ सकें तो सत्य-नारायण परमात्मा का – निवासस्थान है।

"यह विचार अगर हमारे हृदय में दृढ हो जाय, तो हम अपने शरीर को मद का भाजन बनाना भूल जाएँ। अगर हम आकाश के साथ ओतप्रोत हो जायँ और उसकी महिमा समझ लें, तो हम अपनी तुच्छता अधिक महसूस करेंगे और हमारा सारा मद उतर जायगा। आकाश में अगर सूर्यनारायण एक दिन के लिए भी अपनी अनन्त तपश्चर्या बंद करें तो हमारा नाश हो जाय। इसी तरह से अगर चाँद अपनी शीतल किरणें खींच ले तो भी हमारी वही हालत होगी। और अनुमान से हम कह सकते हैं कि रात को आस्मान में जो असंख्य तारागण हम देख सकते हैं, उन सब का इस जगत् को निबाहने में स्थान है। इसतरह से देखा जाय तो इस विश्व में सब जीवों के साथ और सब नजारों के साथ हमारा गाढ़ा संबंध है। हम एक दूसरे के सहारे ही जी सकते हैं।

"इसलिए हमें अपने आश्रयदाता, आकाश में रहने वाले और घूमनेवालों से थोडाबहुत परिचय प्राप्त करना ही चाहिए।

"इसमें तो कोई शक ही नहीं कि आकाश और हमारे बीच हम जितने अन्तराय खडे करते हैं, उतनी ही हम अपने शरीर, मन और आत्मा को हानि पहुंचाते हैं। अगर हम कुदरती ढंग से रहते तो चौबीसों घंटे सीधे आकाश के नीचे ही रहते। अगर वह हमसे नहीं होता है, तो जितना समय हम सीधे आस्मान के तले व्यतीत कर सकते हैं उतना हमें करना चाहिए।

"आकाश–दर्शन के मानी हैं तारका-दर्शन। वह रात्रि को ही हो सकता है। और वह बिस्तर पर लेटे लेटे सब से अच्छी तरह हो सकता है। इसलिए जो कोई इस आकाश–दर्शन से पूरा लाभ उठाना चाहे उसे चाहिए कि वह सीधे आकाश के ही नीचे सोया करे। आसपास ऊंचे मकान और झाड़ हों तो वे भी विघ्न ही करते हैं। आस्मान में कुदरत यह जो नाटक खेलती रहती है, उसे देखने से आखों को शान्ति मिलती है। मैदान में सोने से फेंफडों को शुद्ध हवा मिलती है। और ज्यों ज्यों इस ईश्वरी चमत्कार का हम ध्यान करते हैं, त्यों त्यों आत्मा का विकास ही होता है। जिसे रोज रात में गंदे विचार और ख्वाब आते हों, वह अगर रात को खुली जगह में सो कर आकाश–दर्शन में लीन होने का प्रयत्न करे तो उसे तुरन्त निर्दोष निद्रा का अनुभव होगा। आकाश में रहनेवाले दिव्य गण, मानो ईश्वर का मूक स्तव करते हैं, और हम जब उस भव्य दर्शन में लीन हो जाते हैं, तब जिस के आखें हैं, वह इस नित्य नये स्वर्गीय नृत्य को देख सकता है। जिस के कान हैं वह इन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

असंख्य गंधर्वों का दिव्य मूक गान सुन सकता है।

"शाम की प्रार्थना के बाद तुरन्त आकाश-दर्शन करना ही अच्छा है। उसमें लगातार बीस मिनिट से ज्यादह समय देने की जरूरत नहीं है। जो समझ सकें वह इसे प्रार्थना का ही एक अंग मान लें। खुली जगह में सोने वाले अकेले पडे पडे जितना समय ध्यान लगा सकें उतने समय तक ध्यान लगावें। उसी ध्यान में वे निद्रावश हो जाएंगे। रात को अगर कोई विचार आ गया तो फिर से थोडा दर्शन कर लिया। आकाश प्रतिक्षण बदलता ही रहता है। इसलिए क्षणभर दर्शन भी बदलता जाता है। मेरे लिए ये नक्षत्र ईश्वर के साथ अनुसंधान करने का एक साधन बन गये हैं। आश्रमवासियों के लिए भी वे वैसे बनें। जिस ढंग से बन सके उस ढंग से हरि को प्राप्त कर लेना ही है।

"जैसा आकाश स्वच्छ है, वैसे हम स्वच्छ बनें। तारे जैसे तेजस्वी हैं, वैसे हम तेजस्वी बनें। वे जैसे ईश्वर का मूक स्तवन करते दीख पड़ते हैं, वैसा हम भी करें, और जिस तरह से वे अपना मार्ग एक क्षण के लिये भी नहीं छोडते, वैसे हम भी अपने कर्तव्य को न छोडें।"

गांधीजी ने ऊपर के खत में जिस आकाश-दर्शन की सिफ़ारिश की है उसका कुछ परिचय यथासंभव हर महीने कराने का हमारा इरादा है। एक या दो महिनों तक प्रारंभिक सामान्य बातें लिखकर वाचकों में इस विषय की रुचि उत्पन्न करने की कोशिश की जायगी। आगे जो करोडों सितारे सारी रात अपनी मंगल और अथक दृष्टि से हमारी तरफ निहारते ही रहते हैं उनमें से प्रधान-प्रधान ज्योतियों का और उनसे बनती हुई काव्यमय आकृतियों का परिचय कराया जायगा।

अगर वाचकों के पास ज्योतिष के कोई ग्रंथ हों, तो उन्हें काम में लाने के लिये तैयार रक्खें। यहां ज्योतिष से मतलब है आकाश की तारा, ग्रह आदि ज्योति, उनके दर्शन और गणित से। फल-ज्योतिष से यहां हमारा कोई मतलब नहीं है। फल-ज्योतिष के बारे में भी यथासमय लिखा जायगा। लेकिन वह हमारे दर्शन, अध्ययन और रसास्वाद का विषय नहीं बनेगा। हमें तो दैव की परख नहीं करनी है किन्तु देवों के अजरामर दिव्य काव्य का रसास्वाद लेना है। जिसके लिये वेदों ने भी आज्ञा दी है, "देवस्य काव्यं पश्यन्न जजार न म्रीयते।"

मानवता की सेवा के द्वारा ही ईश्वर के साक्षात्कार का प्रयत्न मैं कर रहा हूं। क्योंकि मैं जानता हूं कि ईश्वर न तो स्वर्ग में है और न पाताल में, किन्तु हरएक के हृदय में।

—गांधीजी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्वोदय की दृष्टि

जहरीला वृत्तविवेचन

सबकोई चाहता है कि अखबारों पर सरकार का नियंत्रण कमसे कम रहे। सरकार चाहे जितनी लोक-नियुक्त क्यों न हो, उससे भूलें हो सकती हैं, और चुनाव के बाद भी सरकार के लिए दिन प्रति दिन लोकमत समझ लेना--निर्भय और निःस्पृह लोकमत समझ लेना--अत्यन्त आवश्यक होता है। इसलिए देश का वृत्त-विवेचन जितना स्वतन्त्र और निरंकुश रह सके उतना ही अच्छा है। वृत्त-विवेचन एक स्वतंत्र संस्था है। लोगों के हित की रक्षा करना, न्याय और स्वतंत्रता की रक्षा करना, बेजबान वर्गों के दुःखों को व्यक्त करना, भिन्न भिन्न मतों का ऊहापोह करना, ये सब बातें सामाजिक जीवन के विकास के लिये अत्यावश्यक हैं। इन बातों के लिये जिन्होंने अपने को, अपने सारे समय और बुद्धि-शक्ति को, और अपने सर्वस्व को अर्पित कर दिया है उनका जीवन और कार्य पवित्रतम है। प्राचीन काल में तपस्वी, निःस्पृह और अकिंचन ब्राह्मणों पर जिस तरह राजा का अंकुश कम से कम होता था, उसी तरह आज भी न्यायाधीश, अध्यापक और वृत्त-विवेचक, इन तीन समाज-सेवकों को राजसत्ता के भय से हमेशा मुक्त ही रखना चाहिए।

न्यायाधीश, अध्यापक और वृत्त-विवेचक इन तीनों का जीवन और कार्य पवित्र होने के कारण इन पर राजसत्ता का अंकुश कमसे कम होना चाहिए, इस सिद्धान्त के स्वीकार के साथ ही साथ यह सवाल उठता है कि ये तीनों अगर उद्दंड हो जायँ, उनका जीवन अगर समाज-विरोधी और उनका कार्य समाज-विनाशक हो जाय तो उन पर किसका अंकुश चले? अलूणी चीजों में स्वाद लाने के लिए नमक या रामरस डाला जाता है। पर अगर नमक में ही लवणत्व या राम न रहा तो उसमें फिर और क्या मिलाया जाय कि जिससे वह नमकीन बन सके? यह सवाल बहुत पुराना है।

समाज में भलेबुरे सब तरह के लोग होते हैं। लेकिन समाज-समाज के बुरे लोग भी – अपने ही हित के लिए सर्वोच्च आदर्श के सामने सिर झुकाते हैं, उसीकी प्रतिष्ठा बढाते हैं। झूठ बोलनेवाला भी यही चाहता है कि लोग उसके साथ सचाई का ही बर्ताव करें और समाज में इज्जत सत्य की ही रहे। अपनी झूठ से अगर वह लाभ उठाना चाहे तो सर्वत्र प्रतिष्ठित सत्य के सहारे ही वह वैसा कर सकता है। न्यायाधीश, अध्यापक और वृत्त-विवेचक तीनों को घूस देने की कोशिश व्यक्तियों की तरफ़ से होती है। किन्तु सामाजिक अपेक्षा तो यही है कि ये तीनों संस्थायें पवित्र रहें।

दुःख की बात है कि यह आदर्श अब समाज छोड़ने लगा है और सन्धि-काल के दिनों में ऐसा अक्सर हुआ करता है। पुराने उच्च आदर्शों के लाभ तो इन्हें सब मिलते हैं और नये गिरे हुए आदर्शों की बजिम्मेवारी वे अख़्त्यार कर लेते हैं। तीर्थ के पंडा लोग प्रथम कहलाते थे अध्यात्मिक धर्मगुरु और आहिस्ता आहिस्ता बन गये यात्रियों के ख़िदमतगार और हाउस-एजन्ट। इस बीच में समाज को उन्होंने काफी लूट लिया। समाज की श्रद्धा से नाजायज लाभ उठाया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक ज़माना था जब साहित्य-सेवियों को लोक-गुरु की पदवी थी। आज भी वह है। किन्तु साहित्य की शक्ति देख कर कई चारित्र्य-हीन, या चारित्र्य-विमुख लोगों ने नट-विट और रंजक का आदर्श अपने सामने रखकर साहित्यसेवी की प्रतिष्ठा से लाभ उठाया और आदर्श को नीचे गिराया। इसी तरह कई अध्यापक भी अपने को केवल विषय-विवेचक या पाठ्यपुस्तक के संक्षेपक मानकर चारित्र्य के बारे में और समाज-सेवा के बारे में अपना कोई दायित्व नहीं मानते और विद्यार्थियों के सामने अपनी जीवनी द्वारा जो उच्च आदर्श पेश करना चाहिए उसी की हँसी करने में कृतार्थ हो जाते हैं।

वृत्त-विवेचन में यह बदी सब से अधिक फैल गयी है। लोगों में समाचार की जिज्ञासा स्वाभाविक है। लोक-सत्ता के दिनों में वह हज़ार गुनी बढ़ती है। लोगों को समाचारों में जितनी दिलचस्पी होती है, उतनी उनके सत्यासत्य के निर्णय में नहीं होती। इसके अलावा लोगों में मानव-सहज राग-द्वेष तो होते ही हैं। बहकाने से लोग बहकते हैं। लोगों में जितना अज्ञान अधिक हो, उतने ही वे अधिक बहकावे में आते हैं। जिनमें निज की बुद्धि कम होती है, वे तो उदारता की अपेक्षा चतुराई को अधिक महत्व देते हैं। कम बुद्धि के कारण जिन्हें जीवन में कदम कदम पर परास्त होना पड़ता है, वे तो दुनिया में सब जगह ठगबाजी ही ढूंढ़ना चाहते हैं। गुप्त बीमारी वाले लोग जैसे धूर्त दवावालों के फन्दे में आसानी से फँस सकते हैं, उसी तरह बुद्धिहीन लोगों को दुनिया में सर्वत्र चालबाजी, दगाबाजी, और हीनता बताने वाला सलाहकार अपना हितकर्ता मालूम होता है। और एक दफ़ा यह हेत्वारोपण की विद्या बढ़ गई तो सचमुच लोगों की बुद्धि भी वैसी ही हो जाती है। पाप बोने से दुराचार की ही फसल हाथ आयेगी।

ऐसी हालत में वृत्त-विवेचक दुर्जन का कार्य करने लगते हैं, तब बुद्धि से हीन और चारित्र्य के बारे में उदासीन लोगों में उनकी चाह बढ़ती है। 'जैसे को तैसा' यह न्याय मनुष्य को चाहे जितना गिरानेवाला क्यों न हो, वह मनुष्य-स्वभाव में दृढ़मूल हो गया है। अगर एक गिरा तो दूसरे को कम से कम उसके जितना गिरने का मानो अधिकार प्राप्त हो गया। एक ने गाली दी तो दूसरे का दो नहीं तो कम से कम एक गाली देने का अधिकार साधारण समाज ने मान ही लिया है।

हीन दृष्टि, हीन बुद्धि, द्वेष और अविश्वास के प्रसार से लोगों का रंजन हो सकता है, यह देखते ही वृत्त-विवेचन में उसका बाज़ार गर्म होने लगता है, और सामाजिक जीवन का अधःपतन ही नहीं, सत्यनाश हो जाता है।

ऐसी हालत में इस सामाजिक बुराई का क्या इलाज किया जाय? सरकार के कानून तो उसके पास होते ही हैं। किन्तु सरकार सरकार में भेद होता है। जबतक समाज में चारित्र्य की चाह होती है, तबतक सरकार पर भी उसका असर होता है। विदेशी सरकार तो अपनी मजबूती के लिए अपना शासन कठोर बना सकती है, बनाती भी है। जिसमें अपनी मजबूती का सवाल न हो, ऐसे प्रश्नों पर वह चाहे सख्त होगी या चाहे उदासीनता दिखायेगी। किन्तु लोक-तन्त्र में हमेशा कुछ कमजोरी होती ही है। जहां किसी फौजी सत्ता का राज हो, वहां सत्ताधारी भला या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बुरा चाहे जो काम दृढता के साथ कर सकता है। जहां चारित्र्य, सदाचार और निःस्पृह लोकसेवा की प्रतिष्ठा हो वहीं पर नीति-शक्ति को लोक-शक्ति का पूरा पूरा आधार होने के कारण लोकतंत्र की सरकार भी मजबूत और कार्यक्षम हो सकती है।

जहां जनता में पक्षोपपक्ष बढ जाते हैं वहां व्यक्तिवाद और वैयक्तिक स्वतन्त्रता चाहे जितनी फूलेफले, नैतिक आदर्श कुछ क्षीण ही हो जाता है और लोक-तन्त्र तो एकदम कमजोर हो जाता है। पर-राज्य हटाने के वक्त, स्वातन्त्र्य-रक्षा के समय अथवा राष्ट्रीय महत्त्वाकांक्षा तृप्त करते समय, लष्करी तंत्र सबसे पहले देश के भीतरी पक्षोपपक्षों का नाश ही करता है। उसके बिना राष्ट्रीय सामर्थ्य संगठित नहीं की जा सकती।

जहां लष्करी सामर्थ्य इष्ट नहीं मानी जाती और केवल नीतिशक्ति पर ही आधार रक्खा जाता है, वहां पक्षोपपक्ष कम कैसे किये जावें यह एक बडा सवाल ही होता है। दुर्जनों को जहां अभयदान मिलता है, वहां वे पक्ष बढा कर ही अपनी प्रतिष्ठा जमा सकते हैं।

इस युग की यह खासियत है कि हर-एक दुःख और कमी को दूर करने में लोग या तो कानून की मदद चाहते हैं अथवा पाठशालाओं के द्वारा और अखबारों के जरिये प्रचार करके कामयाब होने की उम्मीद करते हैं। हरएक व्यक्ति का अपना एक निजी धर्म होता है। अन्तिम शक्ति व्यक्ति की ही है; और हरएक व्यक्ति का हरएक बात में कुछ न कुछ निजी दायित्व भी होता है कि जिसका वह व्यक्ति कभी इनकार नहीं कर सकता।

जब वृत्त-विवेचन में हीनता आती है तब उसकी पूरी पूरी जिम्मेवारी उसके पाठकों और ग्राहकों की होती है, यह वे भूल जाते हैं। समाज में जो सन्मान्य और लोकधुरीण व्यक्ति होते हैं उनका धर्म भी कुछ विशेष होता है। जब कोई अखबार, संस्था, वक्ता या समाज-सेवक अथवा अन्य कोई व्यक्ति सज्जनता की मर्यादा लांघ कर समाज में हीनता फैलाता है, तब उन्हें चाहिये कि बिना किसी बहस में पडते हुए ऐसी कृति और आचरण का केवल निषेध करें। जहां समाज गिरा है, वहां ऐसे निषेध का तात्कालिक परिणाम कुछ नहीं होगा। हीनता के साथ असहयोग घोषित करने के कारण खुद को ही समाजबहिष्कृत होकर रहना पडे यह भी संभव है। किन्तु संस्कारी, नीतिमान और समाजमान्य लोगों का डर के कारण निर्माल्य बनकर रहना भी तो अच्छा नहीं है। दुराचार जैसा संक्रामक होता है, उसी तरह निर्भय सदाचार का पुण्य-प्रकोप भी बिना अपना असर किये नहीं रह सकता।

समाज की नैतिक भूमिका गिरने का और एक महत्त्वपूर्ण कारण है जिसे भूलना नहीं चाहिए। जब लोग पक्षाभिमान से अंधे होते हैं, उन्हें अपने पक्ष की हीनता अखरती नहीं-या कम से कम क्षम्य मालूम होती है। और यदि क्षम्य न भी मालूम पडे तो भी उसका निषेध करने की तीव्रता नहीं पायी जाती। पक्षप्रेम से या व्यक्तिगत ऋणानुबंध से मौन ही धारण करना लोग पसन्द करते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जहांतक हम ख्याल है गांधीजी ने ही अपने लोगों के दोषों की पक्षपात-रहित आलोचना करना शुरू किया और इससे जहां उनका प्रभाव है, वहां पर आत्मशुद्धि का वायुमंडल कम या जादह जम गया।

"जैसे को तैसा" इस सिद्धान्त के असर में आकर जिन वृत्त-विवेचकों ने गांधीजी के सिद्धान्त को मानते हुए उनकी इस नीति का उल्लंघन किया है, उन्हें समझना चाहिए कि वे विपक्षी की हीनता को प्रोत्साहन देते हैं, और अपने अनुकरण द्वारा उसका समर्थन ही नहीं बल्कि गौरव करते हैं।

असहकार के दिनों में जब गुजरात में अतिवृष्टि के कारण बाढ आयी तब काँग्रेस वालों ने सरकारी कर्मचारियों को भी सहायता पहुँचायी। काँग्रेसी स्वयंसेवकों ने अपनी जान खतरे में डालकर बाढ के प्रवाह में तैरकर सरकारी कर्मचारियों को रसद पहुँचायी और उन्हें भूखों मरने से बचाया; क्योंकि वहां समान संकट था और मानवता का ही वहां पालन और प्रदर्शन करना था।

जब समाज के हीन लोग सदाचार की मर्यादा का उल्लंघन करते हैं, तब सब पक्ष–पक्षान्तरों के सज्जनों को संगठित होकर मानवता और सदाचार की रक्षा करनी चाहिए। किन्तु ऐसा संगठन चाहे हो या न भी हो, सदाचारी व्यक्तियों को सदैव जाग्रत रहकर मानवता के आदर्श को गिरने से बचाना चाहि। सार्वजनिक जीवन की शुद्धि ऐसी जागरूकता पर ही निर्भर है।

जब समाज गिर जाता है, तब हीनता को आर्थिक मदद पहुँचाने में हम कोई समाज-द्रोह कर रहे हैं इतना लोग समझ नहीं सकते। हीनता की बातें चाव से पढ़नी ही हैं और उनका मौखिक निषेध भी करना है, यह वृत्ति गिरे हुए समाज की परिचायक है। सामाजिक निर्मलता का अन्तिम उत्तर–दायित्व सदाचारी लोकधुरीणों का है। अगर वे समाज को उत्तर-दायित्व-शून्य बनायेंगे तो उसे बचानेवाली एक विनाश के सिवाय और कोई वस्तु नहीं रह जाती है।

का० का०

मतभेद और शिष्टता

सार्वजनिक जीवन (पब्लिक लाइफ़) का मामूली व्याकरण भी जो नहीं जानते वे कभी कभी इतने पक्षान्ध हो जाते हैं कि भिन्नमत रखनेवाले को वे अपना दुश्मन समझने लगते हैं। विवाद में जो परास्त हो जाये उसके मुंह में धूल भरने वाले शास्त्रियों से हम परिचित हैं। अपने विरोधियों को ज़हर पिलाने वाले लोगों के किस्से भी इतिहास में मौजूद हैं। जिसको अपनी निष्ठा दे दी, उसकी हरएक चीज़ को मान लेना और उसके दोषों का भी समर्थन करते रहना, तथा जिसे विरोधी मान लिया उसे दुश्मन समझकर ज़मीनदोज़ करने की कोशिश करना, यह वृत्ति मनुष्य-जीवन के अत्यन्त असंस्कारी और प्राथमिक अवस्था का लक्षण है। ऐसे लोग अहिंसा का माहात्म्य तो क्या, उसका मतलब भी नहीं समझ सकते। अहिंसावादी जैनों के अन्दर भी जब लोग वादमत्त होते हैं तब कभी कभी प्रतिपक्षी का जिस तरह बने उस तरह विनाश करने पर भी उतारू हो जाते हैं।

सार्वजनिक जीवन में जहां चर्चा के द्वारा लोकमत संगठित किया जाता है और जनता को शिक्षण दिया जाता है, वहां तो इस बात

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का ख़ास ख़्याल रखना ज़रूरी है कि जहां मतभेद हुआ, वहां दुश्मनी न तो मान लेनी चाहिए और न पैदा करनी चाहिए। व्यक्तिगत स्नेह-सम्बन्ध जीवन के अनगिनती तत्त्वों के कारण स्थापित होते हैं। केवल मतभेद के कारण उनका विच्छेद कर देना और अपनी सज्जनता को छोड़कर केवल बैर ही बैर शुरू करना असंस्कारिता और प्राथमिक अवस्था का द्योतक है।

घातपात, मारपीट आदि हीन व्यापारों में धर्म ख़्याल लाकर क्षात्र-धर्म का विधान किया गया। सोते हुए शत्रु को न मारना चाहिए, कमर से नीचे प्रहार नहीं करना चाहिए, शत्रु के बालबच्चों पर आघात नहीं करना चाहिए, शत्रु की स्त्रियों का वचन से भी अपमान नहीं करना चाहिए, शरणागत को मरण नहीं देना चाहिए, गालीगलोज से अपने मुख-विवर को नरक-कुण्ड नहीं बनाना चाहिए, सूर्यास्त के बाद (और शीत प्रदेशों में बर्फ के मौसम में) युद्ध बन्द रखना चाहिए, परस्पर सुलह करके एक नियत समय पर मरे हुए वीरों के प्रेतों को मिट्टी देने के लिए मिलकर काम करना चाहिए, इ० नियमों ने क्षात्रधर्म को जल्लाद के हत्यारे कर्म से ऊपर उठाया। सामाजिक पक्षभेदों के झगडों में भी ऐसे ही शिष्ट-सम्मत सदाचार के नियम होते हैं। किन्तु जिन्हें चौरासी लाख योनियों में हो कर पहली ही बार मनुष्य-देह मिला है, वे इन मर्यादाओं को समझने नहीं पाते। किसी ने मुझे गाली दी तो मैं उसे गाली ही देकर अपने को अपवित्र क्यों बनाऊं? हीनता की होड़ में विजय पाने का शौक मुझे क्यों कर रहे? सज्जनता कोई प्रतियोगी धर्म नहीं है।

दूरदृष्टि से देखा जाय तो भी आज जो हमारे विरोधी हैं, उनके साथ कल कभी सहयोग करना पडेगा यह हम कैसे भूलें? कम से कम हमारा आचरण ऐसा रहे कि आज के प्रतिपक्षी के साथ कल जब सहयोग का सुअवसर आयेगा तब उसकी तरफ देखन में हमें शर्म से अधोवदन न होना पडे अथवा बेशरमी की ढिठाई न बतानी पडे। बाजारू लोग सज्जनता को कमजोरी भले ही मानते हों, लेकिन उससे किसी की हानि नहीं हुई है।

जहां मत-भेद या पक्षभेद हैं, वहां अपना जीवनसंबंध बराबर कायम रखने की विशेष कोशिश करनी चाहिए। किन्तु जहां मतभेद या और किसी कारण से हमारा मित्र या विरोधी सज्जनता छोड़ दे, खुद अपने को और समाज को नीचे गिराता हो, वहां पर लोभ या मोहवश और सामाजिक जीवन के गलत आदर्श से प्रेरित हो अगर हम उससे जीवनसहयोग जारी रक्खें, तो वह भी सामाजिक जीवन का द्रोह है। जबतक हीनता नष्ट नहीं हुई है और समाज-द्रोह चालू है तबतक, प्रेमपूर्वक ही सही, किन्तु अपनी पूरी ताकत लगाकर उसका विरोध, उससे असहयोग करना ही चाहिए। नहीं तो हमारे नैतिक जीवन का कोई मतलब ही नहीं रहेगा।

मत-भेद होते ही अगर परस्पर सद्व्यवहार और शिष्टाचार का अन्त हो जाय तो समाज से चित्त की उदारता और बुद्धि का अनाग्रह हमेशा के लिए उठ जायगा। किसी से मतभेद होते ही अगर हम उसके हरएक वचन पर अविश्वास करने लगें, उसके हरएक व्यवहार को सिर्फ ढोंग समझें, उसे झूठा और दांभिक समझें; तो मतभेद दूर होने पर हम उसे एकदम विश्वासपात्र और ईमानदार कैसे समझ सकते हैं? लेकिन समाज में आज यही दृश्य नज़र आता है। दो आदमी जबतक हमराय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होते हैं, तब तक वे एक दूसरे को झूठा और धूर्त भले ही मानते हों; तो भी वे एक दूसरे की हरएक बात का बडे आग्रह से समर्थन करते हैं। इसका कारण यह है कि सार्वजनिक जीवन में मतभेद का शिष्टता से कोई रिश्ता ही नहीं रह गया है। एक आदमी जो आज मेरा विपक्षी है, मेरी निगाह में दगाबाज़, मक्कार और दुष्ट है; मगर कल वही आदमी किसी कारण मेरे पक्ष में आ जाय तो वह एकदम सज्जन और वफ़ादार हो जाता है। मैं यह विचार भी नहीं करता कि यदि कल यह आदमी दुर्जन और कपटी था, तो आज इसका मेरे पक्ष में शामिल होना क्या उसके कपट-प्रपंच, धूर्तता और अवसर-साधकता का ही अंग नहीं हो सकता? अगर मत-भेद हमारे विचार और मनन का परिणाम है, तो उसका पर्यवसान परस्पर अविश्वास और द्वेष में कभी नहीं हो सकता। हमारा जिससे मत-भेद हो जाय, उसे हम भद्र पुरुष मानना छोड़ दें, या उसकी हरएक कृति को शकभरी नज़र से देखें और उसके हरएक वचन को द्वेषमूलक, स्वार्थपूर्ण और भ्रमोत्पादक ही समझने पर तुले रहें, तो विचार-स्वातंत्र्य और मत-स्वातंत्र्य का समाज से अन्त ही हो जायगा। दो आदमियों का मतभेद अगर शुद्ध और प्रामाणिक हो, तो उन्हें अपनी जान ही नहीं बल्कि अपनी इज्ज़त भी एक दूसरे को सौंपने में तनिक भी हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए। मत-भेद का मतलब है भिन्न दर्शन। हमारी दृष्टि से दूसरों का दर्शन अपूर्ण, या भ्रान्तिमूलक और तर्कदुष्ट भले ही हो; लेकिन हमको उसकी प्रामाणिकता पर सन्देह कदापि नहीं करना चाहिये। भिन्न-मत-वादियों को चालबाज़ या असभ्य समझना एक तरह की अशिष्टता है। यदि हम अपने मत को शास्त्र-शुद्ध और न्यायसंगत समझते हों, तो हमें दूसरों पर असत्य या छल का आरोप करने की ज़रूरत ही नहीं होनी चाहिए। यह तो एक तरह से अपनी कमजोरी कबूल करने के बराबर है। इसका साफ़ मतलब यह है कि हमारे पास दलीलों का अभाव है, हमारी बुद्धि कुण्ठित हो गयी है और इसलिए अब हम अपने स्वाभाविक ओछेपन का आश्रय करके वाद-मर्यादा का उल्लंघन कर रहे हैं। असल में जिसका विचार करने का ढंग हम से भिन्न हो, उसकी प्रतिष्ठा और आत्म-सम्मान की हमें कदर करनी चाहिए। सभ्य वाद-विवाद की यह मुख्य मर्यादा है। जिसकी सचाई और हेतु की निर्मलता के विषय में हमें सन्देह हो, उससे हम विवाद ही कैसे कर सकते हैं? वह तो एक चरित्रहीन और असभ्य समाज-द्रोही है, जिसपर हम दया कर सकते हैं, लेकिन उससे बहस नहीं कर सकते। यह तो हमारे सामाजिक जीवन के पतन का लक्षण है कि आज दो आदमी मत-भेद के कारण एक दूसरे को अनीतिमान्, दुराचारी और दग़ाबाज़ समझते हैं, और मत-भेद दूर होते ही फ़िर एक दूसरे की प्रशंसा करने लगते हैं। जिस दिन मत-भेद और व्यक्तिगत स्नेह-संबंध और परस्पर शिष्ट-व्यवहार का समन्वय होगा उसी दिन हमारा सार्वजनिक जीवन शुद्ध और विकासोन्मुख होगा।

का० का०
दा० ध०

राष्ट्रभाषा का स्वरूप-निर्णय

राष्ट्रभाषा के स्वरूप के निस्बत काफी बहस हो रही है। एक दृष्टि से यह खुशी की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बात है, क्योंकि वह इस बात को रोशनी में लाती है कि हम लोग अब जागरूक हो गये हैं और राष्ट्रीय जीवन से संबद्ध सभी विषयों में दिलचस्पी लेने लगे हैं। जड़ता से सतर्कता कहीं बेहतर है, क्योंकि वह कम से कम ज़िन्दगी की तो निशानी है। लेकिन अति दक्षता, अति शंकाशीलता या अति सावधानी के कारण प्रगति में रुकावट पैदा होती है। इसलिए स्वत्व रक्षा की वृत्ति कायम रखते हुए राष्ट्रीय एकता और राष्ट्र-जीवन के विकास की दृष्टि से इस प्रश्न का विचार करना चाहिए।

सबसे पहले एक महत्त्वपूर्ण तथ्य का ज़िक्र करना आवश्यक है। आज लोगों की दृष्टि साम्प्रदायिक और धार्मिक झगडों के कारण संकीर्ण और विकृत हो गयी है, इसलिए वे हमारे कथन के मनमाने, ऊटपटांग और उलटे-पुलटे अर्थ भले ही निकालें। फिर भी जो ऐतिहासिक और सामाजिक वस्तु-स्थिति है उसको हम कैसे भूल सकते हैं?

जब कभी राष्ट्रभाषा के स्वरूप की चर्चा छेडी जाती है, तब हम प्रायः संस्कृत, अरबी और फारसी, इन तीनों भाषाओं को एक ही श्रेणी की मान लेते हैं। हमारी राय में यह गलत है। संस्कृत भाषा चाहे कितनी ही कठिन और अप्रयुक्त क्यों न हो वह इसी देश की भाषा है। इस देश के हिन्दू, मुसलमान और ईसाई भारतियों के पुरखाओं ने उसका संस्कार और विकास किया। संस्कृत से बढ़कर स्वदेशी हमारे लिए दूसरी कोई भाषा हो ही नहीं सकती। हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि पुराने ज़माने में जब विभिन्न प्रान्तों में अलग-अलग प्रान्तीय भाषायें बर्ती जाने लगीं, तब संस्कृत ही हमारी राष्ट्रभाषा थी। ऐतिहासिक दृष्टि से वह भारतवर्ष की आद्य नहीं तो कम से कम अति प्राचीन राष्ट्रभाषा है।

इसके बाद पाली का काल-खंड आया। सम्राट अशोक के जमाने में शायद पाली राष्ट्र-भाषा हो चुकी थी। संस्कृत और पाली का साम्राज्य भारत की भौगोलिक मर्यादाओं को पार कर दक्षिण और पूरब में फैला हुआ था। आज भी उसका असर दीख पड़ता है।

फारसी और अरबी भाषायें इस देश में मुसलमानों के साथ आयीं। फारसी कुछ समय तक राजभाषा रही। लेकिन जिन लोगों पर राज करना है, उन लोगों की भाषा की बहुत दीर्घकाल तक ऐकान्तिक उपेक्षा करने से काम नहीं चलता। इसलिए फारसी को अपना स्थान फारसी-प्रधान हिन्दी को देना पड़ा। राजभाषा ने इस नयी देशी भाषा को कुछ तुच्छता-दर्शक 'उर्दू' नाम दिया। किन्तु इस देश के निवासियों ने उस भाषा में भी साहित्य निर्माण करके उसे प्रतिष्ठित किया। फारसी बाहर से आयी हुई भाषा भले ही हो, फिर भी वह संस्कृत की बहन है। अरबी मुसलमानों की धर्मभाषा है। इस-लिए इन दोनों भाषाओं का हमारे साहित्य और भाषा पर काफी प्रभाव पड़ा।

भारत की सभी प्रान्तिक भाषायें संस्कृत कुटुम्ब की हैं। जिनका जन्म संस्कृत से नहीं हुआ है वे भी संस्कृत से प्रभावित हैं। उर्दू में भी संस्कृत के काफी शब्द हैं। हाथ, पांव, कान, नाक, पानी, खाना, पीना, आदि शब्द संस्कृत खानदान के ही हैं। अब उर्दू से भी इन शब्दों का बहिष्कार नहीं हो सकता।

संस्कृत शब्दों के रूप बदलकर उन्हें तद्भव बनाया जाता है। तद्भव रूप आसान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समझे जाते हैं। सारी देशी भाषाओं में तद्भव शब्दों की बहुतायत है। गांवों में तद्भव शब्द अधिक प्रचलित हैं। उनका जन्म भी वहीं हुआ करता है। लेकिन अगर हम आन्तरप्रान्तीय सम्पर्क, सहविचार और विनिमय सिद्ध करना चाहते हैं तो हमें तत्सम रूपों का अधिक उपयोग करना होगा। क्योंकि तद्भव रूपों का हाल तो 'बहुशाखाह्यनन्ताश्च' जैसा है। जब शिक्षा का प्रचार बढ़ता है और साहित्य का विकास होता है, तब तत्सम रूपों की प्रतिष्ठा बढ़ती है। हिन्दी के व्यापक राष्ट्रीय दृष्टिवाले साहित्यिक अखिल भारतवर्षीय सुसंस्कृत जनता के लिए जो राष्ट्रभाषा को सार्वप्रान्तीय, परिष्कृत परन्तु सुबोध और व्यापक स्वरूप देंगे उसीके आधार पर अन्य प्रान्तीय भाषाओं के साहित्यिकों की भाषाशैली भी निर्धारित होगी।

लोकसत्ता के इस युग में भाषा सुबोध होना निहायत ज़रूरी है। इस विषय म विद्वानों में मतभेद भले ही हो, तो भी भाषा को सरल और सुबोध बनाने का यत्न सर्वत्र होने ही वाला है। जिन लोगों के 'व्होट' लेने हैं उनको समझाने के लिए लिखने और बोलने की भाषा आसान तो बनती ही जायगी। राष्ट्र के जीवन में जिस जन-साधारण का प्राधान्य दिन पर दिन बढ़ रहा है उसकी उपेक्षा भला राष्ट्रभाषा कैसे कर सकती है?

मुसलमानी राज्य के कारण जिस तरह हिंदी में अरबी और फारसी के शब्द आ गये हैं, उसी तरह वे प्रान्तीय भाषाओं में भी आ गये हैं। लेकिन प्रान्तीय भाषाओं में उनकी इतनी अधिकता नहीं है, जितनी की उर्दू में। शुरूशुरू में तो उर्दू हिन्दी की ही एक शैली थी। लेकिन उर्दूवालों ने अपनी भाषा में से आसान देशी शब्दों को भी हटा कर उसे फारसी और अरबी के मुश्किल लफ्जों से शराबोर कर दिया। नतीजा यह हुआ कि वे एक ऐसी भाषा का प्रयोग करने लगे, जिसका अस्थिपंजर तो भारतीय है लेकिन जो भारत के अहिन्दी प्रान्तों के पढ़लिखे लोगों के लिए भी दुर्बोध है।

पंजाब के एक मुसलमान सज्जन ने कहा कि 'हमलोग इस देश में राज करने आये सो अपनी तहजीब और ज़बान छोड़ देने की गर्ज से नहीं। अगर हमने फारसी की जगह उर्दू को अपनाया तो वह इस उम्मीद और भरोसे से कि हम फ़ारसी से जो काम लेते थे, वही आइन्दा उर्दू से भी लिया जा सकेगा। उर्दू को हम अपनी इस्लामी तहजीब से बिलकूल लबरेज कर देना चाहते थे। इसलिए हम कौमी जबान के नाम पर अपनी भाषा में देशी शब्दों की तादाद बढ़ाते जायेंगे तो इस देश में हमारी संस्कृति ख़तरे में आजायगी।'

हमने उनसे कहा कि 'आप यह बतलाइय कि मुसलमानों में ऐसे कितने हैं, जो बाहर से आये हुए हों। उनमें से ज्यादातर तो इसी देश के हैं। व्यास, वाल्मीकि, और तुलसीदास के वंशज हैं। हिन्दू संस्कृति और साहित्य उनके लिए "ओल्ड टेस्टामेन्ट" की जगह पर हैं। इस्लाम का स्वीकार करते ही उन्हें भारतीय संस्कृति का इन्कार करने की ज़रूरत क्यों मालूम होती है? रेवरेंड नारायण वामन तिलक महाराष्ट्र के एक अप्रतिम कवि थे। उन्होंने ईसाई धर्म का स्वीकार और कुछ थोडा प्रचार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी किया। किन्तु मराठी भाषा का अभिमान और प्रेम नहीं छोड़ा। ईसाई बनते ही नाम, पोषाक और रहनसहन बिलकुल बदल देने में, खानपान में एकदम परिवर्तन करने में और स्वभाषा का तिरस्कार करने में न धर्मनिष्ठा है, न स्वाभिमान और न देशप्रेम। इससे कोई संस्कृति किसी तरह पुष्ट और बलवान नहीं हो सकती।'

सच तो यह है कि धर्म, संस्कृति और जीवन का भाषा और साहित्य के साथ जो संबंध है, उसके तारतम्य को समझ लेना ज़रूरी है। भाषा का संबंध अधिकतर प्रदेश से होता है। इंग्लैंड, जर्मनी और फ्रान्स का धर्म एक है, संस्कृति भी यूनानी और रोमन ही है, परन्तु भाषायें और साहित्य भिन्न हैं। तुर्कस्तान, अरबस्तान, मिसर, ईरान, अफ़गानिस्तान और हिन्दुस्तानी मुसलमानों का धर्म एक है, लेकिन भाषायें भिन्न भिन्न हैं। इसी तरह मराठी, गुजराती तेलगू या बंगला बोलने और लिखनेवाले भिन्न भिन्न धर्मों के अनुयायी हो सकते हैं। हरएक महाराष्ट्र-निवासी की भाषा तो मराठी ही होनी चाहिए, चाहे उसका धर्म कौनसा भी क्यों न हो। भाषा अगर संस्कृति और धार्मिक भावों को व्यक्त करने का साधन है, तो मनुष्य मनुष्य का सम्पर्क और व्यवहार बढ़ाने का भी तो जरिया है।

उत्तर भारत में कई हिन्दू ऐसे हैं, जो सिवाय उर्दू के दूसरी कोई भाषा से वाकिफ़ नहीं हैं। मगर वे अपने पूर्वजों के विचार और संस्कारों से वंचित नहीं रहना चाहते। इसलिए वे अपनी संस्कृति और परंपरागत भावनाओं की वाहिनी उर्दू को ही बनायेंगे। जिस तरह मुसलमान या ईसाई जिस भाषा में लिखेंगे या बोलेंगे उसमें अपनी संस्कृति और धार्मिक विचार प्रगट करेंगे यह स्वाभाविक है, उसी तरह अगर हिन्दू लोग उर्दू में बोलेंगे और लिखेंगे तो वे भी उसमें संस्कृत संस्कृति दाखिल करेंगे ही। अगर वे उर्दू के द्वारा इनको प्रकट न कर सके तो उर्दू के लिए उनके दिल में जो मुहब्बत और इज्जत है, वह नहीं रहेगी। इसलिए भाषा के सवाल को इस तरह साम्प्रदायिक या जातीय बनाना हमारी समझ में एक बड़ा भारी राष्ट्रीय प्रमाद होगा।

कुछ मुसलमानों का यह कहना है कि आज जो भाषा हिन्दी कहाती है वह राष्ट्र-भाषा का पुराना संस्करण है। मुसलमानों के आने के बाद उसपर अरबी और फ़ारसी का जो प्रभाव पड़ा उसे अबाधित रखना ही चाहिए और ऐसी प्रभावित भाषा को, यानी उर्दू को, ही राष्ट्रभाषा का स्थान देना चाहिए। अलबत्ता, आप चाहें तो उसे नागरी हर्फों में लिख सकते हैं। उधर कुछ हिन्दुओं का कथन है कि हिन्दी पर जो अरबी और फ़ारसी का प्रभाव पड़ा है वह हिन्दुओं के पराजय का सूचक है। इस धब्बे को पोंछने की भरसक कोशिश करनी ही चाहिए। राष्ट्रीय वृत्ति के लोगों का निवेदन है कि आपस के लड़ाई-झगडों के लिए ऐतिहासिक कारणों की खोज का प्रयास व्यर्थ ही न हीं बल्कि आपत्तिजनक है। भाषा को बंधुत्व के उत्कर्ष का साधन होना चाहिए, नकि परस्पर गालीगलौज और कलह का। आखिर जबतक समान भा ा न होगी निन्दा और लफ्जी लड़ाई भी नामुमकिन है। इसलिए कमसे कम इतना तो मानना ही पड़ेगा कि भाषा का उद्देश मनुष्यों का व्यवहार-सम्बन्धी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुभीता और सौकर्य है। राष्ट्रभाषा का उद्देश राष्ट्रीय व्यवहार की सुविधा है। राष्ट्रभाषा राष्ट्र-व्यवहार का साधन होने के कारण वह सिर्फ उत्तर भारत की ही नहीं है। काठियावाड़ से आसाम तक और काश्मीर से केरल तक फैले हुए भारत के विभिन्न प्रान्तों के लिए जो सुलभ और सुबोध हो और जो उत्तर भारत के देहाती और शहरवासी हिन्दू और मुसलमानों में बोली या समझी जाती हो वही राष्ट्र भाषा है।

जबतक हमारा सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन पूर्णरूप से ओतप्रोत नहीं होगा, तबतक हमारी अपनी अलग अलग शैलियां बनेंगी ही। गुजरात में एक हदतक हिन्दू और पारसी हिलमिल कर रहते हैं। इसलिए दोनों की भाषा गुजराती ही है। उनके उस मिलाप में जितनी कमी है उतना उनकी भाषा-शैली में भी फ़र्क पड़ जाता है। कई प्रान्तों में हिन्दू और मुसलमानों का भी ठीक यही हाल है। यही बात भारत के सारे हिन्दू और मुसलमानों पर लागू पडती है। और फ़िर लिपि-भेद भी है। लिपिभेद के कारण भाषा शैली में एकरूपता या समानता आना और भी मुश्किल हो गया है।

'किसी के धर्म, संस्कृति, साहित्य, भाषा और लिपि में ज़बरदस्ती कोई परिवर्तन न किया जाय,' यह भारतीय राष्ट्रधर्म का गंभीर आदेश है। इन विषयों में सब को आश्वासन है। इसलिए जबतक राष्ट्रभाषा की दो लिपियां रहेंगी, तबतक उसकी दो शैलियां भी रहेंगी। इस भेद को कम करने की प्रामाणिक चेष्टा दोनों तरफ़ के राष्ट्रवृत्ति-वाले लोग करते रहेंगे। आखिर हमारा उद्देश तो राष्ट्रीय एकता है। हम एकदूसरे के भाव और विचार बिना समान भाषा के कैसे समझ सकते हैं। उनके और हमारे बीच विनिमय का एक माध्यम तो जारी करना ही है। लेकिन, फिलहाल, जबतक हमारे हृदय परस्पर अविश्वास और भय से कातर एवं कृपण हैं, तबतक हरएक आदमी अपनी मर्जी के मुवाफ़िक दोनों में से चाहे जो शैली पसन्द करेगा। फ़िर भी राष्ट्रहित की दृष्टि से और व्यक्तिगत आस्वाद के लिए भी दोनों शैलियों का परिचय हरएक के लिए वांछनीय है।

जबतक स्वराज्य की भूख हमारे अन्दर पैदा नहीं हुई थी, तबतक तो हम अपने स्वत्व को—स्वदेशी धर्म को—भुला कर अंग्रेजी की शरण ले सकते थे। अब स्वराज्य के दिन आ रहे हैं। अब हिन्दू और मुसलमानों को एकदूसरे का दिली सम्पर्क बढ़ाना होगा, एकदूसरे के विचार और भावों के साथ परिचय बढ़ाना होगा। जो लोग आलस, अप्रवृत्ति, दुरभिमान या हृदय की संकीर्णता के कारण यह कर्तव्य नहीं करेंगे वे पिछड़ी हुई जमातों में शुमार किये जायंगे।

हमारी राष्ट्रभाषा में संस्कृत के सरल और रूढ शब्दों की अधिकता तो रहेगी ही। अरबी और फ़ारसी के जो आसान लफ्ज़ रूढ हो गये हैं और प्रचलित हैं, वे भी रहेंगे। आइन्दा जैसे जैसे हमारा सहयोग और सामाजिक सम्पर्क बढेगा और भी जो नये अरबी फ़ारसी शब्द भाषा में दाखिल होकर जड़ पकडेंगे वे भी राष्ट्रभाषा के ही शब्द होंगे। राष्ट्रभाषा का स्वरूप न तो हिन्दी साहित्य सम्मेलन निर्धारित कर सकेगा; न नागरी-प्रचारिणी सभा, और न 'अंजुमन-इ-तरक्की-उर्दू' ही। कॉंग्रेस के प्रस्ताव से भी इसका निर्णय नहीं होगा। किसी भी प्रान्त के शिक्षा-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मन्त्री की शक्ति से यह काम बाहर है। राष्ट्रभाषा के स्वरूप का निर्णय करेगा राष्ट्रीय-जीवन का प्रवाह, और उस प्रवाह से समरस होने की तथा उसे मोड़ने की शक्ति रखनेवाले राष्ट्रीयवृत्ति के साहित्यसेवी। परस्पर अविश्वास और डर के इस विषाक्त वायुमण्डल में सौदागिरी या लेनदेन के समझौतों से काम बनने के बजाय बिगडेगा। हमें तो दृढता, नम्रता और निष्ठा से राष्ट्रधर्म के पथ का अनुसरण करते रहना चाहिए। इसीसे सबका हित और संतोष होगा।

का० का०

क्या यह झूठ सिखाना जरूरी है ?

सभाचतुराई गुण माना जाता है। अपने मत का प्रचार करने में वक्तृत्व सहायक होता है। प्रजासत्ताक युग में इसकी कुछ हद तक आवश्यकता भी है। वक्तृत्व को उत्तेजन देने के नाना यत्न होते रहे। समय-समय पर उसका तरीका बदलता रहा। कुछ वर्ष पूर्व व्याख्यान के लिए पहले से विषय मुकर्रर कर, या समय पर विषय बतला कर छात्रों के व्याख्यान कराये जाते थे, और जो उच्च दर्जे के पाये जाते थे, उनको इनाम दिया जाता था। अब भी यह तरीका कुछ अंश में जारी है। पर पिछले चन्द वर्षों से अधिकतर एक दूसरे तरीके से काम लिया जाने लगा है। इन दिनों भारतवर्ष में धारा-सभाओं का महत्त्व बढ़ने लगा है। उनमें पार्लमेन्टरी विवाद को एक प्रधान स्थान है। उसमें वक्तृत्व, समयसूचकता, अपने पक्ष का असरकारक रीति से मण्डन करना और विरोधी पक्ष का किसी प्रकार खण्डन करना आदि बातों को महत्त्व दिया जाता है। और इनके लिए पोषक कला को बढ़ाने की तीव्रता उत्पन्न हुई है। युवकों को आगे चलकर धारा-सभाओं में निपुणता से काम चलाने लायक बनाने के लिए, या यों कहिए, धारा-सभाओं की नकल कर मनोरंजन करने के लिए, पिछले कुछ वर्षों से स्कूल-कॉलेजों में और सार्वजनिक सभाओं में प्रस्ताव मुकर्रर कर उसके पक्ष और विपक्ष में विवाद कराये जाते हैं, और यह प्रथा दिनों दिन बहुत तेजी से बढ़ रही है।

प्रणाली चल निकली है,। परन्तु जो हम उस के प्रवाह में वेग से बहे जा रहे हैं, उनको इन विवादों के स्वरूप पर गौर करना चाहिए। विवाद तो तभी बढ़ सकता है कि जब उसका विषय वास्तव में विवादास्पद हो। इस दृष्टि से छानबीन कर क्वचित ही ऐसे विषय रक्खे जाते हैं। इसके अलावा विवाद को सार्थक तभी समझ सकते हैं कि जब बोलनेवाले सच्चे हृदय से उसमें बहस करते हों। पर हम देखते हैं कि न तो विषय चुनने में उसकी उपयुक्तता का खयाल किया जाता है और न पक्षविशेष पर पक्की राय रखने वाले वक्ता ही बोलने को खडे होते हैं। कई बार ऐसे विषय विवाद के लिए लिये जाते हैं, कि जिनपर श्रोता वक्ता दोनों में और दोनों पक्षवाले वादियों में भी मतभेद नहीं होता। केवल विवाद का अभिनय करने के लिए ही कुछ प्रस्ताव के पक्ष में और कुछ विपक्ष में बँट जाते हैं। कुछ तो अपना भाषण यह कहकर ही शुरू करते हैं कि "मेरा असली मत तो दूसरा ही है पर वाद के लिए मैं कुछ और ही बोलूंगा।" फिर जिस बात में विश्वास नहीं, वह बडे जोरों से गलत दलीलें दे देकर प्रतिपादन की जाती है, विरुद्ध पक्षवालों का मज़ाक उड़ाया जाता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, और बडे आवेश से अपना झूठा पक्ष साबित कर देने का और श्रोताओं का उसपर विश्वास कराने का स्वांग किया जाता है। सरासर निरर्थक, फ़ जूल, झूठ एवं हानि-कारक दलीलें दी जाती हैं और चतुराई का प्रदर्शन करने के लिए वे असत्य बातों से सजाई जाती हैं। बेहूदी बहस बढ़ती है और अन्त में केवल मज़ाक ही बाकी रह जाता है। एक बार बहस के लिए इस आशय का प्रस्ताव था कि 'भारत वर्ष में गोरक्षण की जरूरत है'। विरोधी पक्ष के एक गोभक्त वक्ता को भी प्रतिपादन करना ही पड़ा कि गोभक्षण ही हितकर है। क्या इसे वाद कहें या वितंडा, या भर्तृहरि के 'विद्या विवादाय' को सार्थक करने का प्रयास!

कोई कहेंगे 'ये पावित्र्यवाद की बातें सुन-सुनकर हम ऊब गये हैं; मनोरंजन के लिए यदि हम कुछ बुद्धि का विलास भी कर लें तो क्या बिगड़ता है? और उसमें तो यह लाभ भी है कि हमारी बुद्धि के कुछ गुणों का विकास भी होता है।' यहां वही पुराना प्रश्न खडा होता है कि शुद्ध ध्येय प्राप्त करने के लिए अशुद्ध साधनों का आश्रय लिया जाय या नहीं? यदि 'हां' जवाब देंगे तो स्वीकार करना होगा कि बुराई की कोख से भी भलाई निपज सकती है। पर प्रकृति के राज्य में इतनी विच्छृंखलता नहीं दीख पड़ती। हम अपनी दुर्बलता के कारण भले ही श्रेष्ठ पथ पर डँटे न रह सकें पर दुर्बलता का दोष स्वीकार करते रहेंगे तब तक ही सुधार की कुछ आशा रख सकते हैं। यदि उसे दोष ही न समझें, तो सुधार की आशा तो दूर ही रही, सम्भव है शायद उस दोष को आगे चलकर गुण भी मानने लग जावें। प्रश्न किया जाता है, व्यवहार में सत्य को स्थान कहां तक दिया जाना चाहिए? उत्तर स्पष्ट है, सोलहों आना। पर क्योंकि हमारा व्यवहार सचाई के साथ हमारे दिल के मुताबिक चलाना कठिन हो जाता है और प्रायः सभी लोग व्यवहार में असत्य का सहारा लेते दिखाई देते हैं, इसलिए हम यह प्रतिपादन करने जाते हैं कि भोजन में नमक के मुताबिक व्यवहार में भी थोडी झूठ जरूरी ही है। धीरे-धीरे झूठ के प्रति हमारी अरुचि हटती जाती है, जीवन के सब अंगों में उसका प्रवेश हो जाता है, और अन्त में उस दोष को हम अपनी दुर्बलता का परिणाम न मानते हुए उसे एक प्रकार से सयानेपन का-व्यवहार कुशलता का-चिन्ह मानने लग जाते हैं।

एक समय था, जब पंचों के-न्यायाधीश के-सामने झूठ बोलना पाप माना जाता था। दस्तावेज बहुत कम होते थे, जो होते थे उनमें केवल देवताओं के नाम की ही साक्षी लिखी जाती थी। अब बहुतेरों के मुंह से सुनते हैं कि अदालत में झूठ बोलना पाप नहीं। रोजगार धंदों में व्यावसायिक इमानदारी (प्रोफेशनल आनेस्टी), के नाम पर बेईमानी के लिए मैदान खुला है। झूठे विज्ञापनों का बोलबाला है और देशहित के लिए ही निकलने वाल अखबार उनको उत्तेजन देकर अपना स्वार्थ साधना बुरा नहीं मानते। सार्वजनिक जीवन में भी दलबन्दियां जोर पकड़ रही हैं। अखबारों में व्याख्यानों में, बहुतसी बहस दलबन्दी के गहरे रंग में रंगी हुई होती है। विरोधी पक्षवालों की किसी निःसंशय अच्छी से अच्छी कृति में भी हम भलाई नहीं देखने पाते। उनको पराजित करने की धुन में हम जानबूझकर नित नयी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

असत्य बातें गढ़कर उनकी निन्दा करते रहते हैं। धारा-सभाओं में भी, कि जहां करोडों की जनता के सुखदुःख का निवटारा होता है और जहां की सभी बातें गम्भीरता-पूर्वक सोचने की होती हैं, कई बार अच्छी बातों का भी केवल विरोध के लिए ही विरोध होता है। ये सब और इनके जैसी ही अन्य सैकडों बातें इस हद तक और इतनी तादाद में होने लग गयी हैं कि वे अब हमें खटकती नहीं, हमारे दिल में चुभती नहीं, एवं उनमें हमें कोई बुराई भी नहीं दिखती।

ये दोष एकाएक थोडे ही आ गये हैं! कई बुरी बातों की हमने बिना विचारे नकल करना शुरू कर दी। दुर्बलता और स्वार्थवश हमने उनका प्रवेश होने दिया। कुछ अंश तक आर्थिक और राजनैतिक परिस्थिति और राज्य-व्यवस्था ने हमको विवश भी किया, और बहुतसे और बडे-बडे लोगों ने भी उन दोषों को आ य दिया। इसलिए उन दोषों के प्रति घृणा कम होती गयी और दोष भी निर्दोष माने जाने लगे।

नैतिक मर्यादाएं कायम रखना बहुतकुछ बहुजनसमाज के मत पर अवलम्बित रहता है। चाहे वे किसी रूप की क्यों न हों, बुराइयों के बारे में लोकमत सदा जाग्रत रहना चाहिए, उसमें ढिलाई आना खतरनाक है। हमें चाहिए कि हम किसी नयी बात का अंगीकार करने से पहले उसे नीति की कसौटी पर कस लें, मोहवश या देखादेखी किसी प्रवाह में न बह जायं। हमें सोचना चाहिए कि क्या पार्लमेन्टरी विवादों में ऊपर लिखे तरीके से दी गयी तालीम हमारे दिल में सत्य का गौरव नहीं घटायगी? क्या उसका भावी जीवन पर अनिष्ट परिणाम नहीं होगा? क्या वह दलबन्दी, वितण्डवाद, आसुरी विजिगीषा, एक दूसरे को किसी प्रकार गिराने की प्रबल कोशिश, आदि दुर्गुणों को फैलाने में साधक नहीं होगी? क्या शिक्षालयों के बालक बेचारे अनजाने इन दोषों का सबक नहीं सीखेंगे?

चन्द विवादों को सुनकर मेरे मन में जो विचार आये, वे मैंने प्रकाशित कर देना उचित समझा। आशा है पाठक इस विषय पर गौर करेंगे। मेरे खयाल से, यदि पार्लमेण्टरी विवाद कराने आवश्यक ही हों, तो उनके विषय ऐसे ही होने चाहिए कि जिन पर सचमुच में मतभेद हो और वक्ता उसी पक्ष में बोले कि जिससे वह वास्तव में सहमत हो।

श्रीकृष्णदास जाजू

'ज्योत्स्ना' न कि 'ज्योत्स्नाम्'

राष्ट्रगीत 'वन्देमातरम्' का एक चरण अशुद्ध गाया जाता है इस ओर मैंने कई बार ध्यान दिलाया है। शुद्ध पाठ है, "शुभ्रज्योत्स्ना-पुलकित-यामिनीम्"; लेकिन बहुतसी सभाओं में—खासकर महाराष्ट्र में—'ज्योत्स्ना' की जगह 'ज्योत्स्नाम्' ही गाया जाता है। महाराष्ट्र उच्चार-शुद्धि के लिए मशहूर है, इसलिए उसे तो यह गलती बिलकुल ही शोभा नहीं देती। यह सारा का सारा चरण एक सामासिक शब्द है। उसका मतलब है, 'सफेद चांदनी से खिली हुई रातवाली (मातृभूमि) को' याने 'ज्योत्स्ना' की विभक्ति तृतीया है। उसपर अनुस्वार दे देने से वह 'द्वितीया' हो जाती है और फिर उस चरण से कोई अर्थ ही नहीं निकलता। आशा है प्रान्तीय समाचारपत्र इस तरफ़ जनता का ध्यान दिलायेंगे और यह भूल जल्द सुधार ली जायगी।

कि० घ० म०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काँग्रेस की प्रतिष्ठा और जनतात्मा की मान-रक्षा

काँग्रेस में जो बुराइयां पैदा हो गयी हैं, और फैल रही हैं उनकी शिकायतें चारों ओर से आ रही हैं। देश के सभी बडे बडे नेता इसके कारण बेचैन हैं और काँग्रेस के शुद्धीकरण के उपायों के चिन्तन में व्यस्त हैं। हम प्रार्थना करते हैं कि उनके यत्न सफल हों और हमारा सार्वजनिक जीवन परिशुद्ध हो।

लेकिन इस विषय का थोड़ा मूलग्राही विचार करना आवश्यक है। काँग्रेस में ये जो बुराइयां तेजी से दाखिल हो रही हैं, उनकी तह में क्या है इसका पता लगाना चाहिए। क्योंकि जबतक रोग के कारणों का निर्मूलन नहीं होगा, सिर्फ बाहरी मरहमपट्टी से कोई स्थायी लाभ नहीं होगा।

कौन कह सकता है कि यह युग किस विशेष प्रवृत्ति का है? लोग कहते हैं यह संक्रमण-काल है, सन्धि-काल है, गतिमान् युग है। यों तो जगत् शब्द ही गति का सूचक है और परिवर्तन प्रकृति का स्वभाव है। इस दृष्टि से तो सभी युग और सभी समय क्रान्ति के युग कहे जा सकते हैं। अतः हम आज के ज़माने का नामकरण करने की अनधिकार चेष्टा नहीं करते। हां, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि आज संसार में साम्राज्यवाद और राष्ट्रीय-स्वतंत्रता में, लोकसत्ता और निरंकुश एकतन्त्री शासन में, घोर संघर्ष चल रहा है। कोई भी सिद्धान्त या प्रवृत्ति सुप्रतिष्ठित या सुरक्षित नहीं जान पड़ती। तो क्या यह ज़माना अप्रतिष्ठित सिद्धान्तों का और अस्थायी श्रद्धाओं का ही है? प्रतीत तो ऐसा ही होता है। इस मन्द और डांवाडोल श्रद्धा के युग में उत्कट और अविचल श्रद्धा-वालों की इसीलिए तो आसानी से फतह हो जाती है।

खैर। गर्ज यह है कि यदि हम लोकसत्ता को मानते हैं और उसे अबाधित रखना चाहते हैं, तो तीव्र श्रद्धा की आवश्यकता है। सवाल यह उठता है कि लोकसत्ता की और प्रातिनिधिक संस्थाओं की इतनी गंदगी को देखते हुए इस श्रद्धा का आलम्बन, उसका अधिष्ठान, क्या हो? हमारी अल्प बुद्धि के अनुसार लोकसत्ता की मूलभित्ति, उसका मुख्य आधार, है जनता की मूलभूत सत्प्रवृत्ति पर अटूट विश्वास। लोकसमुदाय की यह मूलभूत सत्प्रवृत्ति ही उसकी आत्मा है। जनतात्मा की भद्रता और प्रगति-परायणता ही लोकसत्ता में हमारी श्रद्धा का शाश्वत अधिष्ठान हो सकता है। 'जनतात्मा की आवाज़ परमात्मा की आवाज़ है' इस सूत्र के मूल में भी यही सिद्धान्त है। जनतात्मा और परमात्मा में जब हम अभेद देखते हैं, तभी तो मानवता की सेवा द्वारा ईश्वर की आराधना कर सकते हैं। जनता को यदि हम जड़मूढ़ और उन्मार्ग-गामी ही मानते रहेंगे तो हमारी सेवा मिहरबानी का रूप धारण करेगी। लोकतंत्र का सारा सिद्धान्त ही अप्रतिष्ठित और थोथा साबित होगा। लोकतंत्र के मानी हैं जनता में बसनेवाले जनार्दन की आराधना। लोकसेवा का अर्थ है जनतात्मा की उपासना द्वारा लोगों के हृदयस्थ परमात्मा को जगाना।

लोकसेवक और लोकानुरंजकों में ज़मीन आसमान का अन्तर है। लोकसेवक अपने धर्म की मर्यादा-रेषा को न लांघते हुए, और जनतात्मा का अपमान न करते हुए, जनता के हित के लिए नम्रतापूर्वक प्रयत्न करेगा। तहां लोकानुरंजक लोकच्छंदानुवर्तन करते हुए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोकप्रियता और वाहवाही की फिराक में रहेगा। ऐसे लोकच्छन्दानुवर्तियों को एडमन्ड बर्क ने 'लोकप्रियता के नीलाम में बोली बोलने वाले' कहा है। जो लोग लोकजीवन को व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति का क्षेत्र मानते हैं वे समाज-द्रोही हैं। उनके लिए समाज चुनाव की एक विराट सभा से अधिक पवित्र या उदात्त वस्तु नहीं है। ये लोग लोक-सत्ता के सिद्धान्त को मानने वाले नहीं हैं। जनता को महज अपनी वैयक्तिक महत्त्वाकांक्षा की तृप्ति का साधन मानने वाले हैं। जो जनता को भी महज़ साधन मानता है, उसे गौण स्थान देता है, उससे बढ़कर लोकतंत्र का द्रोही और कौन हो सकता है? इसलिए आम तौर पर लौकिक अर्थ में जो लोक-सत्ता के हिमायती कहलाते हैं, वे जनता के सच्चे उपासक नहीं होते। वे उसे अनाडी और भोलीभाली समझकर अपना उल्लू सीधा करना चाहते हैं, पैसों से, मित्रता के बल पर, या सत्ता के जोर से, 'व्होट' लेना चाहते हैं। व्होटों को जबरदस्ती ले लेना या खरीद लेना जनतात्मा की उपासना नहीं, बल्कि जनतात्मा में संस्थित परमात्मा की अवहेलना और विडम्बना है। जो धनाढ्य व्यक्ति काँग्रेस में रुपयों से व्होट खरीदने आये हैं, वे 'व्होट' की—लोकसत्ता के इस मूल आधार की—कद्र रुपयों से अधिक कभी नहीं करेंगे। जो दूसरों की व्होट खरीदना नागरिक धर्म की दृष्टि से पाप नहीं मानते वे मौका आते ही अपनी व्होट भी बेचने में हिचकेंगे नहीं। जो बलवान् व्यक्ति काँग्रेस में बल की बदौलत मान और प्रतिष्ठा प्राप्त करने आये हैं, वे अवसर आते ही दूसरों के श्रेष्ठ बल के अधीन हुए बिना नहीं रहेंगे। जो बुद्धिमान लोग बद्धिबल के बूते पर जनता को धोखा देना चाहते हैं, वे दूसरों के चकमों में आजाना सामाजिक पाप नहीं मानेंगे। धन, बुद्धि या बल-प्रयोग के द्वारा जनता को बहकाने की कोशिश करने से घोरतर दूसरा सामाजिक पाप, या जनता की वंचना, हो ही नहीं सकती।

हम जब पहली बार काशीजी गये तो गंगाजी में कुल्ला करने लगे। एक धार्मिक सज्जन हम पर बहुत बिगडे और कहने लगे 'तुम गंगाजी का भी अपमान करते हो, नास्तिक हो'। वे खुद गंगाजी का ही चुल्लूभर जल लेकर उन्हें अर्घ्यप्रदान कर रहे थ। इस घटना का तात्पर्य स्पष्ट है। जो लोग लोक-गंगा को स्वार्थी आकांक्षाओं से कलुषित करते हैं वे गंगाजी में थूकने का पाप करते हैं। जो उसकी आराधना नम्रता और निश्चय से करते हैं, वे अर्घ्यप्रदान का पुण्य करते हैं। जनता को अपनी भोगदासी माननेवाले समाज-कंटक हैं, लोक-सत्ता के नामपर वे मातृद्रोह करते हैं।

लेकिन इनका केवल सख्त शब्दों में धिःकार करने से काम नहीं चलता। जिस संस्था का जनता से संपर्क बढता जायगा उसकी शक्ति भी बढेगी। सभी तरह के लोग उसमें आने की कोशिश करेंगे और अपनी अपनी वृत्ति के अनुसार उसकी शक्ति से लाभ उठाना चाहेंगे। संस्था जितनी व्यापक बनेगी उतने ही अधिक लोग उसमें आवेंगे।

काँग्रेस सारे देश के प्रतिनिधित्व का दावा करती है। इसलिए उसके सदस्यों की संख्या तो पैंतीस करोड तक बढ़ सकती है। दूसरी संस्थाओं की अपेक्षा काँग्रेस व्यापक और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिक शक्तिमान् है। इसका सबसे बड़ा सबूत यह है कि महत्वाकांक्षी और सत्ता-लोलुप लोग उसमें आना चाहते हैं। जो संस्था अधिक लोकाभिमुख और प्रातिनिधिक होती है उसीका यह हाल होता है। तिलक के जमाने में उनका स्वराज्य-संघ, गोखले के भारतसेवासंघ की अपेक्षा अधिक प्रातिनिधिक संस्था थी। उसके सदस्यों की और प्रशंसकों की संख्या कहीं अधिक थी। सदस्यों की संख्या अधिक होने के कारण उसमें दांभिक देशभक्तों की संख्या भी अधिक थी, और 'तेली-तमोलियों' के नेता लोकमान्य को विपक्षियों के कटाक्षों का विषय बनना पडता था। यहांतक कि उनके देहान्त के कुछ ही दिन पहले उनके एक सुप्रसिद्ध भक्त ने उनपर, पर्याय से, सार्वजनिक धन के दुरुपयोग का भी अभियोग लगाया था। आज वही हाल काँग्रेस का भी है। उसकी प्रातिनिधिकता ज्यों ज्यों बढेगी त्यों त्यों उसकी प्रतिष्ठा और सत्ता भी बढेगी और फलस्वरूप कर्तृत्ववान और महत्त्वाकांक्षी व्यक्तियों की उसको अपनी कामनापूर्ति का उपकरण बनाने की प्रवृत्ति भी।

आज हम क्या देखते हैं? हर एक दूसरे को स्वार्थी और मक्कार कहता है। इसतरह सब मिलकर सारे समाज को मक्कार कहते हैं। जो दूसरों को लौकिक प्रतिष्ठा के इच्छुक बताते हैं, वे खुद भी अपनी अपनी संस्थाओं में वही करते हैं। उनकी शिकायत यह है कि काँग्रेस की प्रतिष्ठा और सत्ता का जो लाभ दूसरों को नसीब होता है वह हमें मयस्सर नहीं होता। खेद तो इस बात का है कि जो सामान्य जन बुद्धिमानों की चालबाजी को कोसता है, धनाढ्यों की व्यापारी वृत्ति की निन्दा करता है, वह भी बुद्धिमानों के चकमों में आ जाता है, धनाढ्यों के आमिष का शिकार बनता है और बलवानों की गीदड़भपकियों से डरता है। तो क्या लोकसत्ता के लिए कोई आशा नहीं है?

हमारी श्रद्धा इस निराशावाद को स्वीकार नहीं कर सकती। क्या आज भी काँग्रेस के बल और प्रतिष्ठा का अधिष्ठान जनता की तपस्या और उसकी मलभूत सत्प्रवृत्ति ही नहीं है? क्या वे इस बात का प्रमाण नहीं हैं कि जनता की अन्तरात्मा अभीतक पतित नहीं हुई है? हमें उसी अन्तरात्मा का आवाहन करना चाहिए। वह आइन्दा भी निरपेक्ष सेवा की कद्र करेगी।

धनवान लोग 'व्होट' क्यों खरीद सकते हैं? इसलिए कि हम उन्हें बेचते हैं। जन-साधारण ने व्होटों की दूकानें लगायी हैं। साधारण मतदाता को यह समझ लेना चाहिए कि 'व्होट' कोई सौदे की चीज़ नहीं है और न खैरात की ही है। भय से, दया से, मुहब्बत से, मुरव्वत से, या द्रव्यलाभ के लिए दे देने की वस्तु नहीं है। यह लोकसत्ता की दृष्टि से आस्तिकता का प्रधान लक्षण है। चा की एक प्याली के लिए, किसी दोस्त को खुश करने लिए, या किसी रिश्तेदार को कृतार्थ करने के लिए, यदि हम 'व्होट' दे सकते हैं तो इसतरह चुना हुआ हमारा प्रतिनिधि अपनी व्होट का भी उसी तरह उपयोग करेगा और उसे दोष नहीं मानेगा। सारी बुराई की जड़ हमारी कमजोरी है। अगर हम अपनी आत्म-मर्यादा का भंग नहीं करेंगे तो महत्त्वाकांक्षियों की सारी दौलत, बुद्धि और शक्ति धरी रह जायगी। लोकसत्ता की रक्षा तो जनता ही कर सकती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूसरों में वह सामर्थ्य नहीं हैं। बलवान् लोग लष्करशाही चाहेंगे, बुद्धिमान् पण्डितों की सत्ता के हिमायती रहेंगे और धनाढ्य धनिकशाही के। लोकशाही के पक्षपाती, लोग ही रहेंगे। अगर वे ही लोक-जीवन को विषाक्त करने में हाथ बटायेंगे तो लोकसत्ता की रक्षा कौन कर सकता है? इसलिए काँग्रेस में घर करनेवाली सारी बुराइयों का असली और कारगर इलाज है जन-साधारण की जागरूकता -- उसका स्वरूप-दर्शन। और सब इलाज महज़ मरहमपट्टी हैं।

लोकमाता के पवित्र मन्दिर में से नास्तिकों को हटाने का सबसे प्रभावशाली उपाय यही है कि लोग अपनी 'व्होट' को अपने प्राणों से प्यारी जो इज्जत, उसके बराबर समझें, और धार्मिकता से उसका उपयोग करें। काँग्रेस से बुराइयां दूर करने के और सब उपाय क्षणिक लाभ का आभास उत्पन्न करने वाले साबित होंगे।

दा० ध०

गजानन दाबके का अपूर्ण कार्य

अक्सर ऐसा देखा गया है कि हिन्दी के पक्षपाती लोग भी बडी बडी सभाओं में अपना महत्त्वपूर्ण भाषण इसलिए अंग्रेजी में देना चाहते हैं कि अंग्रेजी में उसकी रिपोर्ट विस्तृत और सही ली जाती है, और चौबीस घंटों के अन्दर देश के कोने कोने तक पहुँचायी जाती है। अगर इस स्थिति को बदलना है और हिन्दी को उसका स्वाभाविक स्थान दिलाना है तो सबसे पहले हिन्दी के लिए ऐसी एक लघुलिपि या शीघ्र-लेखन-पद्धति चलानी चाहिए जिसके द्वारा हिन्दी में दिये हुए भाषण उतनी ही सरलता और तेजी से लिये जा सकें, जितने कि अंग्रेजी में लिये जाते हैं। बाद में लघु-लिपि के संकेताक्षरों में से उनको नागरी में लिखने के लिए और उनकी एक ही साथ अनेक प्रतियां बनाने के लिए मुद्रालेखनयंत्र भी ऐसे चाहिए जो अंग्रेजी, याने रोमन लिपि के, टाइपराइटर की अपेक्षा अधिक सुगम, सर्वांगपरिपूर्ण और सस्ते हों।

इसके बाद देशभर में संवाददाताओं का एक ऐसा जबरदस्त संगठन भी चाहिए कि जिसके द्वारा कम से कम पच्चीस या तीस स्थानों से हिन्दी संवाद इकट्ठे करके देश के सारे प्रधान देशी अखबारों के पास पहुँचाये जायें। संवाद भेजने का यह काम आज तारद्वारा नहीं हो सकेगा। तारघरों की आज की व्यवस्था रोमन अक्षर और अंग्रेजी भाषा को ही मान्य करती है, उसी को स्वीकारती है। वह दिन हमें लाना होगा जब तारघरों के लिए भी देशी वर्णमाला के संकेत निश्चित किये जायेंगे और नागरी अक्षर तथा हिन्दी भाषा में लिखा हुआ सन्देश तारघरों में लिया जायगा और उन्हीं अक्षरों और शब्दों में भारत के कोने कोने तक पहुँचाया जायगा।

लिपिसुधार, शीघ्र-लेखन-पद्धति, नागरी का सम्पूर्ण और सुलभ मुद्रालेखन-यंत्र, नागरी की विद्युल्लिपि (टेलिग्राफिक कोड) और संवाददाताओं का समाचार-संगठन, इतनी बातें राष्ट्रभाषा और प्रान्तीय भाषाओं की प्रतिष्ठा के लिए, लोकजीवन की समृद्धि के लिए और स्वराज्य के विचारों के प्रचार के लिए नितान्त आवश्यक हैं। राष्ट्रीय जीवन के संगठन की यह भविष्यत् दृष्टि सामने रखकर जो कार्य हमलोगों ने शुरू किया है उसमें शीघ्रलेखन के आवि-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ष्कार का महत्त्व आजकल के युग में असीम है। इस कार्य में जिनकी सहायता से हम बहुत कुछ कार्य कर सकते थे ऐसे एक होनहार नवयुवक स्व० श्री गजानन दाबके थे।

जीवन के हरएक पहलू का गणित में रूपान्तर करने की जिन्हें लगन है ऐसे पिता से गजानन ने जन्म लिया और उसी शक्ति को, शीघ्रलेखन-पद्धति में वैज्ञानिकता लाने के लिए काम में लाने का उसने निश्चय किया। उसके सामने उसकी मातृभाषा मराठी ही थी। आज देश में देशी भाषाओं के लिए जो शीघ्रलिपियां बढ़ती जाती हैं उनमें अक्सर पाश्चात्य शीघ्रलिपियों का ही अन्ध अनुकरण होता है। दीर्घ अनुभव के बाद इसमें कुछ न कुछ सुधार सूझते ही हैं। वही है हमारी आज की भारतीय शीघ्रलेखन-पद्धति। इनमें से अधिकांश शीघ्रलेखक तो पिटमैन का ही अनुसरण करते हैं। यह एक हद तक ठीक भी है, क्योंकि पिटमैन की व्यवस्था में हमारी वर्णमाला की वैज्ञानिकता का स्वीकार है, और उसी व्यवस्था के आधार पर पिटमैन की लिपि की व्यंजन-व्यवस्था बनायी गयी है। क, च, ट, त, प, की वर्ग-व्यवस्था मान कर ही पिटमैन ने व्यंजन-संज्ञाएं निश्चित की हैं। केवल उसका क्रम बदल दिया है। किन्तु स्वर-व्यवस्था उस पद्धति में अंग्रेजी भाषा की सहूलियत की दृष्टि से की गयी है।

गजानन दाबके ने देखा कि व्यंजनों को व्यक्त करने के लिए पिटमैन में जो संज्ञाएं निश्चित की गयी हैं उनमें वैज्ञानिक दृष्टि नहीं है। शीघ्रलेखन के सार्वत्रिक सिद्धान्त का पालन उसमें नहीं है। अगर संकेत-लिपि की शीघ्रता सिद्ध करनी है तो जिन वर्णों का भाषामें प्राचुर्य अधिक से अधिक है उनके लिए सुलभतम संज्ञाएं नियुक्त करनी चाहिए; और बाकी संज्ञाएं भी व्यंजनों के प्राचुर्य के क्रम से ही—ऑर्डर ऑफ फ्रिक्वेन्सी के अनुसार ही – निश्चित करनी चाहिए। यह सिद्धान्त सर्वमान्य होते हुए भी इसके अनुसार लिपि निश्चय करने का न किसी ने प्रयत्न किया और न किसी को यह सूझा ही। बालक गजानन ने हाथ में क्रोनॉमीटर (सूक्ष्म घडी) लेकर शीघ्र लिपि के संकेताक्षर लिखना शुरू कर दिया और संकेताक्षरों की लेखनगति निश्चित कर दी। उसके बाद उसने मराठी के प्रतिनिधिक ग्रन्थ, उपन्यास, निबंध, अखबारों के लेख आदि से लाखों शब्दों का गणन किया और भाषा में किन वर्णों का कितना प्राचुर्य है यह मराठी के लिए निश्चित कर दिया। शीघ्र-लेखक अपनी गति बढ़ाने के लिए जो सर्वमान्य तरकीबें काम में लाते हैं उनका अध्ययन भी गजानन ने अच्छी तरह किया और एक मिनिट में १४० या १४५ शब्दों तक उस की गति पहुँच गयी। जो काम किया, वह व्यवस्थित, क्रमबद्ध और सुन्दरता से किया और नियत समय में पूरा किया। ऐसी आदत गजानन की शुरू से होने के कारण उसमें असीम आत्मविश्वास था।

बम्बई में उसकी यह शक्ति और योग्यता मैं भांप गया था। इसलिए लिपि परिषद में मैंने उसे बुलाया था। वर्धा आते ही गजानन ने अपना अध्ययन वैज्ञानिक ढंग से शुरू कर दिया। सब से पहले उसने भारतीय वर्णमाला की वैज्ञानिक व्यवस्था का अध्ययन किया। स्थान के अनुसार स्पर्श वर्णों का व्यवस्था, घोष, अघोष, अल्पप्राण, महाप्राण आदि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रयत्नों की रचना उसने समझ ली। भारतीय भाषाओं की खूबियां, प्रान्तीय विशेषताएं और वर्णमाला का न्यूनाधिक्य जब उसके सामने आया तब उसकी दृष्टि व्यापक हुई और उसने अपनी लिपि-पद्धति में परिवर्तन करके उसे पूर्णतया वैज्ञानिक बनाने की चेष्टा की। पिटमैन की पद्धति का तो उसे प्रत्यक्ष परिचय था ही। उसके साथ साथ स्लोन-डुप्लाइन, ग्रेग और डटन की पद्धतियां भी उसने अच्छी तरह देख लीं। अब, इन सब पद्धतियों में लिपि-माला तो एकसी ही होती है, किन्तु कौनसी संज्ञा किस वर्ण के लिए निश्चित करनी चाहिए इसके विषय में बड़ा मतभेद है। मात्राएं पतली या मोटी करना, आधी या दुगनी करना, पंक्ति को रेखा के ऊपर, नीचे या मध्य में लिखना, नीचे से ऊपर या ऊपर से नीचे ले जाना, इ० जो अनेक तरकीबें होती हैं, उनका भी किस ढंग से उपयोग करने से अधिकाधिक लाभ हो सकता है यह देखने पर ही शीघ्रलिपि की सफलता निर्भर है।

जिस तरह उर्दू में स्वर-दर्शक, ज़बर, जेर, पेश, आदि चिन्ह छोड़ दिये जाते हैं, इतना ही नहीं किन्तु घसीटी में व्यंजन-भेद - दर्शक नुक्ते, जो बे, पे, ते, जैसे व्यंजनों के साथ आते हैं, छोड़ दिये जाते हैं, उसी तरह शीघ्रलिपि में भी स्वर-दर्शक संज्ञाएं और व्यंजन-भेद-दर्शक तरकीबें छोड़ देनी पड़ती हैं। प्रयत्न ऐसा किया जाता है कि इन संज्ञाओं, मात्राओं और तरकीबों को छोड़ने पर भी लेख पढ़ने में कम से कम संदिग्धता का अनुभव हो। इसके लिए भाषा का सूक्ष्म परिचय और शीघ्रलेखन की गुत्थियों की उत्तम पहचान आवश्यक है। आविष्कारक के मस्तिष्क में इससे भी अधिक एक लचीलेपन की ज़रूरत होती है जिससे वह एक भाषा से दूसरी भाषा में, एक लिपि से दूसरी लिपि में और एक गणन-पद्धति से दूसरी गणन-पद्धति तक, आसानी से कूद सके। असाधारण प्रतिभा के बिना यह असंभव है। एक दिशादर्शक सार्वभौम सूत्र पाते ही उसका अधिकार कहां कहां चल सकता है इस बात को तुरन्त समझना, उसके अपवादों को कल्पना से ही दृष्टिगोचर कर लेना और उन सब की कुछ न कुछ व्यवस्था कर देना, यह भी प्रतिभा का ही काम है। गजानन में यह प्रतिभा थी और उसके कारण उसमें प्रत्युत्पन्न मति का भी काफी विकास हुआ था।

एक दिन शाम को मैंने केवल एक नयी कल्पना उसे दे दी। शीघ्रलिपि की सारी व्यवस्था को ही बदलने वाली वह कल्पना थी। आजतक की सब लिपियों में व्यंजनों के लिए सरल या वक्र रेषा आदि संज्ञाएं दी जाती हैं और स्वरों के लिए या तो बिन्दु आदि सूक्ष्म संज्ञाएं दी जाती हैं, या आदि, मध्य, अवसान, ऊपर, बीच में, और नीचे, बिन्दु रखने की तरकीबों से वे व्यक्त किये जाते हैं। मैंने सोच लिया कि बोलने में तो लघु और दीर्घ स्वर कुछ न कुछ समय लेते हैं। व्यंजन एक क्षणलव में ही बोले जाते हैं। युक्ताक्षर के तीन तीन चार चार व्यंजन भी मिलकर एक मात्रा के उच्चारण का समय नहीं लेते। तब हम ऐसा क्यों न करें कि स्वरों के लिए सरल या वक्र रेषाएं ऊर्ध्व या अधोगति से लिखें; और पंचस्थानात्मक व्यंजनों के लिए केवल बिन्दु या स्थान का उपयोग करें? लकीर के ऊपर, बीच में या नीचे लिखने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की तरकीब को हम "लोक–व्यवस्था" कहते थे। यह हमारी निजी परिभाषा थी। स्वर्ग, मृत्यु, पाताल की उपमा मन में रखकर यह परिभाषा हमने कायम की थी। लकीर के आदि, मध्य और अन्त में जब बिन्दु दिया जाता है तब हम उसे स्थान–भेद कहते थे। मेरी नयी सूचना यह थी कि स्वर कालिक होनेसे उनके लिए हम संज्ञाएं याने मात्राएं दे दें; और व्यंजन क्षणिक होने से वे बिन्दु द्वारा स्थान-भेदेन या लोक-भेदेन या उभय-भेदेन व्यक्त किये जायें। आगे चलकर मैंने यह भी सूचित किया कि शब्द-संक्षेप और शब्द--समूह–संक्षेप में स्वरों को छोड़ देने की अपेक्षा प्रथम व्यंजन को रखकर बाद के स्वरों को ही अगर हम रख लें, जैसा कि मराठी भाषा की पुरानी मोडी लिपि में किया जाता था – तो लेखन की गति बढ़कर शब्दबोध भी असंदिग्ध हो जायगा। अध्याहृत व्यंजनों का सोच लेना इतना मुश्किल नहीं है जितना कि अध्याहृत स्वरों का। इसलिए स्वरों को ही व्यक्त करने से आज जिस संदिग्धता का अनुभव हम करते हैं वह कम हो जायेगी।

गज़ानन को एक क्रान्तिकारी सार्वभौम कल्पना मिलते ही उसकी अपनी कल्पनाशक्ति जाग्रत हो गयी और वैज्ञानिक बुद्धि तेजी से काम करने लगी और वह दीवाना-सा हो गया। खाने-पीने की सुध भूल गया। पडोस के अपने कमरे में दौड़कर गया और बिजली की बटन दबाकर सोचने और काम करने में लीन हो गया। रात के दो बजे तक बैठकर अपनी कल्पना, अपना अनुभव और अपनी गणन–शक्ति के सहारे उसने एक रात में ही इस नयी कल्पना का पूरा-पूरा विकास कर दिखाया; और सुबह चार बजे की प्रार्थना के बाद ब्रह्मदेव के समान सारा [illegible]तार मेरे सामने पेश किया। दूसरे दिन हम दोनों इस नयी व्यवस्था के दोष देखने लगे। गजानन ने बताया इस नयी पद्धति में व्यंजनों के युक्ताक्षर व्यक्त करना असंभवसा है। युक्ताक्षर-व्यवस्था अगर न हो सकी तो सारी योजना फेंक देनी पडेगी। लेकिन गजानन इस तरह कोई भी कल्पना फेंक देने वाला नहीं था। युक्ताक्षर कितने होते हैं, कौन कौन से युक्ताक्षर भाषा में अधिक प्रयुक्त होते हैं, यह सब देखने का उसने निश्चय किया। मैं जानता था कि बहुतसे युक्ताक्षर ह, र, य, न, म, स, के संयोग से ही बनते हैं किन्तु इनके प्राचुर्य का गणन मैंने कभी नहीं किया था। गजानन ने यह काम शुरू कर दिया। बाद में मैंने उससे कहा कि ह, य, र, न, म, स, के युक्ताक्षरों के बाद अधिक से अधिक युक्ताक्षर होते हैं द्वित्त के। एक ही व्यंजन दो बार आने से किसी न किसी प्रकार उसका द्वित्त हम व्यक्त कर सकेंगे और बाकी के युक्ताक्षरों के लिये बंगाली तरकीब का सहारा लेंगे। बंगाली लोग लिखने में तो सब युक्ताक्षर ठीक ठीक लिखते हैं लेकिन उच्चारण में युक्ताक्षर के प्रथम वर्ण का द्वित्त कर डालते हैं। जैसे सत्य का सत्त, विद्वान का बिद्दान, आत्मा का आत्तां; और तो भी उन की भाषा सुनकर सन्देह नहीं होता। फिर हम भी लघुलिपि में इसी युक्ति का आधार क्यों न लें?

गजानन ने बडे ड्रॉइंग कागज लेकर उन पर सब युक्ताक्षरों की एक बडी सारिणी तैयार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की और संस्कृत और भाषाओं के व्याकरण लेकर उनमें प्रयुक्त युक्ताक्षरों पर निशान लगाये। इसके बाद उसका विचार उनके प्राचुर्य का भी गणन करके कहां कौनसी कठिनाई आ सकती है इस की खोज करने का था। गजानन का कहना था कि अगर यह नयी पद्धति सिद्ध हो जाय तो हमारी एक बडी कठीनाई दूर हो जायगी। शीघ्रलिपि में संज्ञा या मात्राएं बहुत ही परिमित होने के कारण संज्ञा–दारिद्रय निबाहना बहुत कठिन काम होता है। स्वर–व्यंजनों की अभिव्यक्ति का सारा क्रम उलटने से यह दारिद्रय दूर हो जायगा और आज की अपेक्षा गति भी बढ़ जायगी। भारत की भाषाओं में स्वरों की विविधता बहुत है। इसीलिए मैंने यह संज्ञाविक्रम सुझाया था। हमारे देश की आबहवा ही ऐसी है कि यहां पर हम मुँह खोलकर बोल सकते हैं और स्वरों का विस्तार कर सकते हैं। ठंडे मुल्क-वाले अंग्रेजों को जिस प्रकार अपने घरों के दरवाजे और खिड़कियां बन्द रखनी पड़ती हैं उसी प्रकार बोलने में मुँह कमसे कम खोलने की तरफ़ उनका झुकाव होता है। हमारी स्वर–व्यवस्था अगर सम्पूर्ण हो जाय तो भारत की सभी प्रान्तीय भाषाओं की व्यवस्था हम आसानी से कर सकेंगे।

गजानन ने हमारे साथ डेलांग (उडीसा) जाते ही कटक में जाकर उडिया लिपि का अध्ययन किया। वहां की कुछ पुस्तकें खरीदीं और उडिया, बंगला और आसामी भाषाओं की सुविधा के लिए जो परिवर्तन आवश्यक हैं उन्हें सोचने लगा। मेरे साथ पंजाब में जाकर वहां के वर्णों की खासियत भी उसे देखनी थी। मुद्रालेखन की यंत्र-रचना का भी उसने अध्ययन किया था और उसमें भी नये नये आविष्कार करने का और भारतीय भाषाओं को सब तरह समर्थ बनाने का हमारा विचार था। किन्तु इस वक्त तो यह सब स्वप्न–मात्र हो गया है। भारत के इस उदयकाल में गजानन का कार्य पूरा करने वाला प्रतिभाशाली नवयुवक एक भी न मिलेगा ऐसा हम कैसे मानें? अब तो काम कुछ काल के लिए रुक गया है किन्तु इसे आगे चलाना ही है।

महज़ कल्पना करना उसे व्यवहार में लाने की अपेक्षा आसान है। गजानन ने एक नयी कल्पना को एक बिलकुल नयी, सर्वांग–सुन्दर और सुव्यवस्थित योजना में परिणत करने का उद्यम किया और उस में जिस सूझ, मौलिकता और प्रतिभा का परिचय दिया वह मैं कभी नहीं भूल सकता।

का० का०

मैं जानता हूं कि अभी मुझे इससे कहीं बिकट रास्ता तै करना है। मुझे अपने आप को शून्य बना लेना चाहिये। जबतक मनुष्य अपनी गिनती पृथ्वी के सारे जीवों के अन्त में नहीं करेगा, उसे मोक्ष नहीं मिलेगा। नम्रता की चरम सीमा का ही नाम तो अहिंसा है।

—गांधीजी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संघ-वृत्त

त्रैमासिक विवरण

तीसरी तिमाही के कार्य–विवरण जिन सदस्यों ने अबतक नहीं भेजे उनसे प्रार्थना है कि वे अपने विवरण शीघ्र भेज देने की कृपा करें।

त्रैमासिक कार्य–विवरण में नियमानुसार मासिक कताई का विवरण देना अवश्य है। खेद है कि कुछ सदस्यों को अब भी इस बात का विस्मरण हो जाता है। इसलिए फिर एक बार इस नियम की ओर सदस्यों का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूं।

नये वर्ष के अनुमान–पत्र

नये वर्ष की कार्य–योजना और अनुमान–पत्र भेजने के संबंध में एक परिपत्र कार्यालय से सदस्यों की सेवा में अक्तूबर के प्रारंभ में ही रवाना हो चुका है। जो सदस्य अपनी योजनायें भेजना चाहते हैं, लेकिन अबतक भेजी नहीं हैं, उनको चाहिये कि वे सकी जल्दी करें।

नये सदस्य

अक्तूबर मास में नीचे लिखे सहयोगी सदस्य संघ में दाखिल किये गये हैं:—

१. **डॉ. गोपीचंदजी भार्गव,** लाजपतराय भवन, लाहोर।

२. **श्री. रामलखन सिंह,** ग्रामसेवा आश्रम, अंगार, जि. दरभंगा।

गांधी जयन्ति

सदस्यों ने व्यक्तिगतरूप से तथा संगठित-रूप से गांधी–जयन्ति का उत्सव अपने अपने स्थान में मनाया, उसके विवरण आये हैं। कातना और खादी–प्रचार को उत्सव के कार्यक्रम में मुख्य स्थान होना स्वाभाविक है। तिरुचेंगोडू आश्रम में ता. २१ सितम्बर से ता. २ अक्तूबर तक अखंड चरखा चलाया गया था। जो सूत हुआ उसकी ७ गज ४५" अर्ज की और २२ गज २८" अर्ज की खादी बनाई गयी और गांधीजी को समर्पण करने के लिए प्रधान कार्यालय में भेज दी गयी है।

संघ के सेवक – सदस्य श्री. मावजीभाई वेद तथा सहयोगी–सदस्य श्री. नारायणजीभाई मांडवी, कच्छ में प्रधानतः हरिजन – सेवा, का कार्य करते हैं। उन्होंने गांधी–जयन्ति के अवसर पर अपने गांव में घर घर घूम कर दस दिन में कुल रु. ९२–१३–० चंदा हरिजन सेवा के लिए इकठ्ठा किया था। इसमें २८३९ सिक्के सिर्फ एक एक पैसे के थे, यह खास नोंध लेने की बात है।

मज़दूर उपसमिति

इस समिति की ओर से बम्बई, झरिया और सक्कर (सिंध) में मज़दूर–सेवा का कार्य शुरू हो गया है। बम्बई में समिति की ओर से एक सेवा–मंदिर खोला गया है और शिवडी के कपास के गोदाम में काम करने-वाले मज़दूरों में काम शुरू किया गया है। बीमार मज़दूरों को दवाई दी जाती है और एक रात्रिशाला भी खोली गयी है। मज़दूरों की ओरसे शिकायतें आती हैं उनको भी दूर करने की कोशिश की जाती है। मज़दूरों ने अपनी यूनियन बनाने की इच्छा प्रकट की है। उम्मीद है कि जल्दी ही यूनियन बन जायगी।

र. श्री. धोत्रे
मंत्री. गां. से. सं.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घानी और चक्की के नमूने

हमारे पास हमारी सुधारी हुई तेलघानी तथा धान कूटने और आटा पीसने की चक्कियों की बहुतसी मांगें आती हैं। हम इन चीजों को इतनी तादाद में नहीं बना सकते कि लोगों की मांग पूरी कर सकें। इसलिए इन सब के लकडी के छोटे छोटे नाप सहित नमूने बना रहे हैं जिससे कि इनको देख कर स्थानीय बढ़ई ठीक नाप लेकर पूर्ण आकार की घानी या चक्की बना सके। 'तेलघानी की पूर्ति' इस किताब के अलावा घानी का यह नमूना भी घानी बनाने में सहायक होगा। इस तरह से लोगों को जो अन्यथा रेल का किराया देना पड़ता, वह बच जायगा। नमूनों की कीमत निम्नांकित है:–

			रु. आ. पा.
१ तेल घानी (दो किताबों के सहित)	...	...	३–१३– ०
२ धान कूटने की चक्की	...	...	०–१०– ०
३ ढेंकी	....	...	१– ०– ०
४ आटा पीसने की चक्की	...	...	१– ४– ०

भेजने का खर्च और रेल का किराया अलग पडेगा।

मिलने का पता—

व्यवस्थापक, घानी विभाग,
अखिल भारत ग्राम उद्योग संघ,
मगनवाडी, वर्धा (सी. पी.)

सूचना—

'सर्वोदय' में आम तौर पर अश्तिहार नहीं लिये जायेंगे। अपवाद केवल वाचनीय ग्रन्थ और देशसेवा करनेवाली संस्थाओं के लिये रहेगा। अनके अश्तिहारों के दाम नहीं लिये जायेंगे। केवल कागज, छपाई और डाकखर्च लेकर अश्तिहार छापे जायेंगे। जो साहित्य या संस्था निर्विवादरूप से लोकोपयोगी है, अुसीको स्थान दिया जायगा, और वह भी अेक ही बार। यह व्यवस्था केवल समाज-सेवा और ग्राहकों के हित की दृष्टि से चलायी जायगी।

व्यवस्थापक, 'सर्वोदय', वर्धा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
Reg. No. N. 741

अहिंसा की साधना

मानसिक अहिंसा की स्थिति को प्राप्त करने के लिए काफी कठिन अभ्यास की ज़रूरत है। हमारे दैनंदिन जीवन में व्रत और नियमों का पालन आवश्यक है। यह अनुशासन हमें रुचिकर भले ही न हो, फिर भी वह उतना ही आवश्यक है जितना कि एक सिपाही के लिए। परन्तु मैं यह मानता हूं कि यदि हमारा चित्त इसमें सहयोग न दे तो केवल बाह्य आचरण एक दिखावे की चीज़ हो जायगी; जिस से खुद हमारा नुकसान होगा और दूसरों का भी। मन, वाचा और शरीर में जब उचित सामंजस्य हो तभी सिद्धावस्था प्राप्त हो सकती है। लेकिन यह अभ्यास एक प्रचण्ड मानसिक आन्दोलन होता है। अहिंसा कोई महज यांत्रिक कवायद नहीं है। वह तो हृदय का सर्वोत्कृष्ट गुण है और साधना से ही प्राप्त हो सकता है।

—गांधीजी

प्रकाशक:—दादा धर्माधिकारी, बजाजवाडी, वर्धा (मध्यप्रांत)।
मुद्रक:—वल्लभदास जाजू, श्रीकृष्ण छापखाना लिमिटेड, बच्छराज रोड, वर्धा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्वोदय

अेष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके

सम्पादक—काका कालेलकर, दादा धर्माधिकारी

वर्धा, दिसम्बर १९३८ अंक ५

दान की जगह काम

जो भूखे और बेकार हैं अुन्हें भगवान केवल एक ही विभूति के रूप मे दर्शन देने की हिम्मत कर सकते हैं; वह विभूति है काम और अन्न के रूप में वेतन का आश्वासन।

* * * * *

नंगों को जिनकी ज़रूरत नहीं है अैसे कपडे देकर मैं अुनका अपमान नहीं करना चाहता। मैं अुसके बदले अुन्हें काम दूंगा क्योंकि अुसी की अुन्हें सख्त जरूरत है। मैं अुनका आश्रयदाता बनने का पाप कभी नहीं करूंगा। लेकिन यह महसूस करने पर कि अुनको तबाह करने में मेरा भी हाथ रहा है, मैं अुन्हें समाज में सम्मान का स्थान दूंगा। अुन्हें जूठन या अुतरन तो हरगिज़ नहीं दूंगा। मैं अुन्हें अपने अच्छे से अच्छे खाने और कपडे में हिस्सेदार बनाअूंगा और अुनके परिश्रम में खुद योग दूंगा।

* * * * *

बिना प्रामाणिक परिश्रम के किसी भी चंगे मनुष्य को मुफ्त में खाना देना मेरी अहिंसा बरदाश्त ही नहीं कर सकती। अगर मेरा वश चले तो जहां मुफ्त खाना मिलता है अैसा प्रत्येक "सदावर्त" या "अन्नछत्र" में बन्द करा दूं। अुनकी बदौलत राष्ट्र का पतन हुआ है, और आलस्य, सुस्ती, दंभ तथा गुनहगारी को बढ़ावा मिला है।

—गांधीजी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अेक अंक...	...	रु० ०–६–०
वार्षिक ...	...	रु० ३–०–०
बर्मा में ...	...	रु० ३–८–०
विदेश में...	...	६ शिलिंग १.५० डॉलर.

(सब डाक सहित)

अनुक्रमणिका

(१) राष्ट्रभाषा की पढ़ाई (किशोरलाल घ. मशरूवाला) ... १

(२) अनुशासन-दंड का प्रयोग (दादा धर्माधिकारी) ... ९

(३) कौअे की नजर से ('आश्रमवासी अुल्लू') ... १३

(४) पाश्चात्य देशों की बेकारी का
अेक मात्र अक्सीर इलाज–गांधी मार्ग (मनु सुबेदार) १८

(५) मैं महारोगियों की सेवा में कैसे लगा ?
(मनोहर बलवन्त दिवाण) ... २४

(६) राष्ट्रभाषा की सनातन चर्चा (काका कालेलकर) ... २७

(७) देवों का काव्य (काका कालेलकर) ३२

(८) वरदान [कविता] (श्रीमन्नारायण अग्रवाल) ... ३४

(९) सर्वोदय की दृष्टि ३५
गीता जयन्ति; बम्बई गोली-प्रकरण का सबक; राजरत्न प्रो० माणिकराव; गांधी=सत्याग्रह; अध्यापक और राष्ट्रकारण; अश्लीलता और पाठ्य पुस्तकें; भारतीय राष्ट्रधर्म की शिक्षा; सुशिक्षित द्वितीया; 'कौअे की नजर'; प्रश्नोत्तरी.

(१०) संघ वृत्त ५०

(११) वाङमय परिचय ५१

सर्वोदय मिलने की व्यवस्था निम्न लिखित स्थानों में की गयी है :

(१) वोरा एण्ड कंपनी, ८, राउण्ड बिल्डिंग, प्रिन्सेस स्ट्रीट, बम्बई, २ ।

(२) नवजीवन कार्यालय, १३०, प्रिन्सेस स्ट्रीट, बम्बई, २ ।

(३) नवजीवन कार्यालय, अहमदाबाद ।

(४) खादी भण्डार, हैरिसन रोड, कलकत्ता ।

(५) सस्ता साहित्य मण्डल, नया बाजार, देहली ।

(६) सस्ता साहित्य मण्डल, लखनऊ ।

(७) गांधी आश्रम, गोरखपुर ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्वोदय

अेष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके

संपादकः—काका कालेलकर
दादा धर्माधिकारी

दिसम्बर १९३८
वर्धा

राष्ट्रभाषा की पढ़ाई

(किशोरलाल घ. मशरूवाला)

(ता. १५ नवम्बर, १९३८ को सूरत में राष्ट्रभाषा–अध्यापन–मन्दिर खोलने के अवसर पर दिया हुआ भाषण ।)

आपने इस विद्यालय का नाम 'राष्ट्रभाषा अध्यापन मन्दिर' रक्खा है। मेरा ख्याल है कि अैसा अविशेष नाम देने में शायद आपने सोचा होगा कि राष्ट्रभाषा के नाम के झगडे में कौन पडे? उसे 'हिंदी' कहते हैं, तो मुसलमान नाराज होते हैं, और उर्दू कहते हैं तो हिंदू नाराज होते हैं। 'हिंदुस्तानी' कहने के लिअे शायद आप ही की मनोवृत्ति तैयार नहीं हुई है। इस कारण से कि हिंदी नाम आज तक चलता था और सब को संतोष हो अैसी उसकी व्याख्या भी जाहिर कर दी गई है। फिर भी, आपको अचंभा होता है कि, आपकी नीयत पर क्यों शंका की जाती है, और उसे छोड़कर 'हिंदुस्तानी' नाम का ही उपयोग करने का हठ क्यों किया जाता है? अब कॉंग्रेस ने 'हिंदुस्तानी' शब्द को पसंद किया है, और आप लोग कॉंग्रेसवादी हैं, इसलिअे आप उस नाम का विरोध तो नहीं करना चाहते। लेकिन आपको शायद वह कुछ खटकता भी है। अैसे कुछ विचार से आपने तीनों नामों को टालना ही ठीक समझा होगा।

फिर भी, हमारी राष्ट्रभाषा को केवल 'राष्ट्रभाषा' कहने से तो काम नहीं चलेगा। मान लीजिये कि आपसे किसी विदेशी ने पूछा कि आपके देश की राष्ट्रभाषा कौनसी है? तो आपको 'हिंदी', 'उर्दू', 'हिंदुस्तानी' ऐसा कोई न कोई नाम तो बताना ही होगा। तब आप कौनसा नाम बतावेंगे? मैं भी नामों के इस झगडे को पसंद नहीं करता और उससे अलग रहना चाहता हूं। इसलिअे मैंने अपने लिअे तो यह विचार कर लिया है कि हिंदी, ऊर्दू, हिंदुस्तानी इन तीन शब्दों में से जो नाम जिस समय मेरे मुंह पर आ जाय, अथवा जब जिस तरह के आदमी के साथ मुझे व्यवहार करना हो उसको समझाने के लिअे जो नाम सुभीते का हो,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसका उपयोग करूंगा। वेदान्त में 'सच्चिदानंद' शब्द से तीन भिन्न भिन्न पदार्थ नहीं समझे जाते। उस पदार्थ का हम कभी सत्य, कभी चैतन्य, कभी आनंद, कभी दो दो को मिलाकर सदानंद, चिदानंद, सच्चित्पद, और कभी तीनों को मिलाकर 'सच्चिदानंद' शब्द से निर्देश करते हैं। जिस प्रसंग में उसका उपयोग करना हो, उसको देखकर किसी एक को पसंद कर लेते हैं। इसी तरह हिंदी-हिंदुस्तानी-उर्दू इन तीनों शब्दों का मैं अेक ही अर्थ में उपयोग करूंगा और तीनों शब्दों से अेक ही भाषा समझूंगा। उस भाषा का व्यवहार करने में न मैं उसे संस्कृतिया बनाने का आग्रह रखना चाहता हूं और न फारसिया। मैं तो यह देखूंगा कि मैं किसके लिअे बोल या लिख रहा हूं। अगर मुझे गुजरात में बोलना है, तो मैं न कठिन संस्कृत शब्दों से भरी हुई भाषा बोलूंगा और न कठिन अरबी-फारसी शब्दों से लदी हुई। उत्तर हिंदुस्तान के हिंदू या मुसलमान पंडितों की भाषा का भी उपयोग करना न चाहूंगा। उदाहरण के लिअे, सूरत में मैं यह न कहूंगा कि 'मैं अनुभव कर रहा हूं', और न यह भी कि 'मैं महसूस करता हूं'। 'मुझे अैसा लगता है' इतना ही कहकर मैं संतोष मानूंगा। इसी तरह अेवं, अतः, फलतः, सुतरां, अन्ततोगत्वा, आदि प्रयोगों को भी टालूंगा, और मजबूरन, कागजात, मकानात, अलफाज, इस्तेमाल, कानूनन, बाकायदा, इरादतन अैसे शब्दों को भी टालूंगा। लेकिन, अगर मुझे काशी में बोलना हो तो संस्कृतिया हिंदुस्तानी और लाहौर में बोलना हो तो फारसिया हिंदुस्तानी का, जैसी जरूरत हो, उपयोग करने में कुछ भी संकोच न होगा। अगर मैं आन्ध्र में जाऊं और मुझे राष्ट्रभाषा में बोलना हो, तो संस्कृतिया जबान का ही उपयोग करना होगा। इस तरह जगह और मौका देखकर शब्दों और शैली की पसंदगी करने के कारण क्या मुझे अपनी भाषा की अलग अलग नाम से पहचान कराना चाहिअे? तब तो जो यहां भगवत्प्रसाद है उसकी पंजाब में खुदाबक्ष के नाम से पहचान करानी होगी!

अब मेरे जैसे आदमी को लीजिये। मैं चाहे कितनी ही कोशिश करूं तो भी मेरी भाषा में अरबी-फारसी के मुकाबले में संस्कृत शब्द ज्यादा होना अनिवार्य है। मेरी भाषा खांसाहेब अब्दुलगफ्फारखां नहीं समझ सकते। उसी तरह वे कितना भी प्रयत्न क्यों न करें, उनके लिअे जिसे आप समझ सकें इतनी आसान हिंदुस्तानी बोलना मुश्किल है। जो तालीम हमको मिली है, उसके कारण यह हमारी मर्यादा बन जाती है। लेकिन, इससे यह कहना कि मैं और वे अलग अलग भाषायें बोलते हैं, सही नहीं है। जो जरूरी है, वह यह है कि न मैं अरबी-फारसी शब्दों की तरफ नापसंदगी की नजर से देखूं और न वे संस्कृत शब्दों की तरफ, और हम दोनों का यह नियम हो कि अैसे शब्दों का उपयोग करने की कोशिश करें जिन्हें सुननेवाला समझ सके। कोरी पण्डिताई का कोई आग्रह न करें। इसलिअे दोनों ही कठिन संस्कृत शब्द और कठिन अरबी-फारसी शब्दों का कम से कम उपयोग करें।

खुद हमारे गुजरात में भी संस्कृतिया गुजराती और फारसिया गुजराती के नमूने पाये जाते हैं। श्री. मणिलाल नभुभाई की प्रसिद्ध पंक्तियां आप सबने सुनी ही होंगी:-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"कई लाखो निराशामां,
अमर आशा छुपाई छे।"
"खफ़ा खंजर सनमनामां,
रहम ऊंडी लपाई छे॥"

इसमें पहली पंक्ति संस्कृतिया है, और दूसरी फारसिया है। इसलिअे क्या हम यह कहें कि दोनों पंक्तियां अलग-अलग भाषा की हैं, और क्या हमें पहली को गुर्जरी और दूसरी को गुज्जर, और जहां दोनों का मिलाव हो उसीको गुजराती कहना चाहिअे?

मतलब, मेरी राय में हम संस्कृतिया होने के कारण, फारसिया होने के कारण, मिलौनी होने के कारण, नागरी में लिखी जाने के कारण, या उर्दू में लिखी जाने के कारण, हिंदी-उर्दू-हिंदुस्तानी इन नामों में कोई भेद न करें। हमारी राष्ट्रभाषा वह है जो देहली, युक्तप्रान्त, बिहार और महाकोशल के लोगों की मातृभाषा है। उसका नाम आम लोग कहीं पर हिंदी बताते हैं, कहीं पर उर्दू, कहीं पर हिंदुस्तानी। परंतु, ना-समझी से होने वाले झगडे मिटाने के लिअे कांग्रेस ने उसे 'हिंदुस्तानी' नाम से पहचानना पसंद किया है। उसे कई लोग नागरी में लिखना पसंद करते हैं और कई लोग उर्दू में। उसका असली स्वरूप और व्याकरण वह है जो तुलसीदास, सूरदास आदि के ग्रंथों में पाया जाता है, और उसका आज का स्वरूप और व्याकरण वह है, जिसमें संस्कृत, फारसी और अरबी व्याकरण और शब्दों की भी मदद ली गई है। ऊपर कहे प्रान्तों के कुछ भागों में उसको ज्यादा संस्कृतिया स्वरूप मिला है, और कुछ भागों में फारसिया, तथा दूसरे कुछ भागों में दोनों का सम-प्रमाण है। यह वही भाषा है जिसे पं. मालवीय, पं. जवाहरलाल नेहरू, राजेंद्र बाबू, मौलाना आजाद आदि देहली, युक्तप्रान्त, बिहार के हिंदू-मुसलमान नेता श्रोताओं की तरफ नजर रखते हुए आम सभाओं में बर्तते हैं।

गुजराती में लिखते हुए मुझे तीस से अधिक वर्ष हुए हैं। इसलिअे अगर मैं कुछ अनुभव की बात कहूं तो आशा करता हूं कि उसे आप धृष्टता न समझेंगे। आज-तक मेरी भाषा संस्कृतिया ज्यादा रही है। लेकिन वह बुद्धिपूर्वक वैसी न थी। जो शिक्षा मुझे मिली थी, उसका वह परिणाम था। पिछली सदी में गुजराती भाषा बचपन में नहीं के बराबर पढ़ाई जाती थी। ११-१२ वर्ष की उम्र में अंग्रेजी चौथी में प्रवेश होता था, तब कई विद्यार्थियों की अंग्रेजी द्वारा संस्कृत की पढ़ाई शुरू होती थी, और कईएकों की फारसी की। वह ठेठ बी. ए. तक चलती थी। यही दशा गुजरात के सारे विद्वानों की थी। परिणाम यह होता था कि पहले गुजराती में लिखने के मानी थे अंग्रेजी में वाक्य-रचना बनाना, बाद उसके संस्कृत या फारसी पर्याय खोजना, और उन पर्यायों को गुजराती व्याकरण के नियमों से जोड़ देना। जो अंग्रेजी, संस्कृत या फारसी इन तीनों में से एक भी भाषा नहीं जानता उस गुजराती की भाषा हम नहीं लिख सकते थे। वह भाषा सुनने में तो रात दिन आती थी, क्योंकि घर की स्त्रियां और आम लोग तो वही बोलते थे। पर उसका लेखन में उपयोग करना विद्वानों के समाज में कम दर्जे का समझा जाता था। इसलिअे लेखकों की प्रवृत्ति कृत्रिम और क्लिष्ट भाषा बनाने की ओर ही होती थी। और उनको यह स्व-सन्तोष भी था कि इस प्रवृत्ति से गुजराती भाषा ज्यादा समृद्ध हो रही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो गुजरात में हुआ, वही दूसरे प्रान्तों में भी हुआ। हिंदी में वही हुआ। यह हमारे देश का पुराना कु-संस्कार है। हमारे संस्कृत नाटकों में ब्राह्मणों और राजाओं के मुंह से संस्कृत भाषा बुलवाई जाती है, और स्त्रियों-वैश्यों और शूद्रों के मुंह से प्राकृत! यानी, जिसने विद्या प्राप्त की हो, उसको आम लोग और खुद अपनी पत्नी और बच्चों की भाषा को कम दर्जे की समझकर छोड़ देना चाहिअे और अेक बनाई हुई भाषा को इस्तेमाल करना चाहिअे यह हमारी परंपरा है। इससे कभी संस्कृत सार्वत्रिक तो होने ही नहीं पायी। लेकिन थोडी प्राकृत भाषाओं में से आज की अनेक प्रान्तीय भाषायें बन गईं और आज तक यही स्थिति है कि विद्वानों की दृष्टि में संस्कृत, फारसी, अंग्रेजी, मागधी, पाली आदि सब भाषाओं के लिअे आदर हो सकता है, सिर्फ अपनी वर्तमान भाषायें ही कम दर्जे की मालूम होती हैं। तीस साल के अनुभव से मेरी यह राय हो गयी है कि संस्कृत, फारसी, अंग्रेजी आदि के इस अध्ययन से प्रान्तीय भाषाओं की कुछ समृद्धि जरूर हुई है, लेकिन वे बिगाडी भी बहुत गई हैं। हमने वाक्यरचना और शैली नाहक जटिल और कभी कभी गलत भी बना दी है। इसकी कुछ मिसालें मैं देता हूं:—

'अध्यक्ष ने अपने अभिभाषण में महत्त्वपूर्ण उपदेश सुनाया।' यहां 'अभिभाषण' क्यों? सिर्फ भाषण कहने से कौनसा मतलब छूट जाता है? इसी तरह 'महत्त्वपूर्ण' उपदेश क्यों? 'महत्त्व का उपदेश' ही क्यों नहीं?

विद्वान को 'मुझे मिला' इतना कहने से संतोष नहीं होता। 'मुझे प्राप्त हुआ', 'हासिल हुआ'— कहने में शिष्टता मालूम होती है। लेकिन, क्यों? इसी तरह वे आपका 'ध्यान खीचता हूं' कहने के बदले 'आकर्षित करता हूं' कहेंगे।

अब, जब कि राष्ट्रभाषा के प्रचार के कारण भिन्न भिन्न प्रान्तीय भाषाओं का उस के साथ संबंध बढता जायगा, तब हमारी भाषाओं को निष्कारण ही संस्कृतिया या फारसिया बनाने से हमने कितनी मुश्किलें पैदा की हैं, इसका पता चलेगा। कुछ उदाहरण तो अभी ही दे सकता हूं। 'अनुभव' 'प्रवृत्ति,' 'कार्यक्रम,' 'अनुष्ठान,' 'संस्थान,' 'सम्मति,' 'सौभाग्य,' 'आश्वासन,' 'सांप्रदायिक,' 'धन्यवाद,' 'आपत्ति', 'अभिप्राय,' आदि सब शुद्ध संस्कृत शब्द हैं। सब प्रान्तीय भाषाओं में भी चलते हैं। पर किन्हीं किन्हीं भाषाओं में अथवा हिंदी में उन्हें खास खास अर्थ मिले हैं। इसलिअे जब हिंदी में बोलनेवाला उस प्रान्त में उस का उपयोग करेगा तो कई बार सुननेवाला उसको समझ ही न सकेगा, या दूसरा ही अर्थ कर लेगा। उदाहरणार्थ—

'मैं अनुभव कर रहा हूं कि आप को बोलने में अब कष्ट हो रहा है'—अैसा वाक्य सुनकर गुजराती या महाराष्ट्रीय को आश्चर्य होगा वह कहेगा 'मेरे कष्ट का आप कैसे अनुभव कर सक सकते हैं? उसका तो मुझे ही अनुभव हो सकता है।' साफ है कि हिंदुस्तानी में अनुभव को बडा व्यापक अर्थ मिल गया है। 'महसूस' शब्द को हटाने के लिअे शायद वह प्रयोग चला दिया गया हो। वह कहना चाहता है 'मैं अनुमान या कल्पना करता हूं'। सीधीसादी भाषा में कहे तो 'मुझे लगता है' या 'मालूम होता है' कहेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी तरह किसी गुजराती का इस प्रकार सवाल करना बहुत स्वाभाविक है–'आप की आज कल क्या प्रवृत्ति है?'–मतलब 'आज कल आप किस प्रकार के कार्यों में लगे हुअे हैं ?' लेकिन हिंदी श्रोता उसके मानी समझेगा कि 'आपकी आज-कल क्या मनोवृत्ति है'? और शायद उत्तर देगा, 'आज कल मुझे कोई बलवान प्रवृत्ति ही नहीं उठती है'। गुजराती सोचेगा कि यह कौनसी भाषा है ? 'मैं कुछ जोर की प्रवृत्ति नहीं कर रहा हूं' अैसा कहते तब तो ठीक था, लेकिन 'प्रवृत्ति उठती नहीं है' यह भाषाप्रयोग कैसा ?

इसी तरह हिंदुस्तानी में 'धन्यवाद' का अर्थ होता है आभार–निहोरा मानना (थैंक्स); गुजराती में अभिनंदन, बधाई, (कान्ग्रेच्युलेशन्स)। गुजराती में 'संमति' शद्व से हमेशा अनुमति, रज़ामन्दी अथवा सहमति (कन्सेन्ट) समझी जाती है, हिंदी में उसका अर्थ 'राय', 'मत' होता है।

उडीसा में अेक बार अेक बहन ने मुझसे पूछा, 'स्त्रियों के अनुष्ठान किस तरह चलाने चाहिअें ?' मैं विचार में पड गया कि मैं कोई पुरोहित तो नहीं हूं। अनुष्ठान की विधि ये मुझसे क्यों पूछती हैं ? फिर स्पष्टीकरण कराने से मालूम हुआ कि उडीसा में संस्था को अनुष्ठान कहते हैं। यानी प्रश्न यह था कि 'स्त्रियों की संस्थायें किस तरह चलानी चाहिअे ?' इसी तरह आंध्र में 'सौभाग्य' का अर्थ होता है उद्योग, वहां 'ग्रामउद्योग' नहीं कहते 'ग्राम–सौभाग्य' कहते हैं।

उदाहरण बढ़ा कर आपका समय लेना नहीं चाहता। मतलब यह है कि संस्कृतिया अथवा फारसिया बनाने की प्रवृत्ति से अैसे सवाल उठेंगे। और तब, शायद, हम इस विचार पर पहुँच जायेंगे कि इन सब प्रयोगों की जगह अपंडित जनता में रूढ़ शद्वों का उपयोग करना ही अच्छा होता।

इसपर से प्रान्तीय हिंदीप्रचार की संस्थाओं के लिअे जो अेक जरूरी काम है, उसकी ओर आपका ध्यान खींचना चाहता हूं। अैसा अेक शद्वकोश आपको बनाना होगा, जिसमें जिन शद्वों के हिंदी और स्वभाषा में अलग अलग अर्थ होते हैं, वे बताये गये हों। और साथ ही ऐसे शद्व भी, जो हिंदी और स्वभाषा में समान हों अथवा थोडे ही फर्क के साथ उपयोग में लाये जाते हों।

अेक और चीज़ भी करने की जरूरत है। आप देखेंगे कि हिंदुस्तानी बोलने या लिखने में हरेक प्रान्त के लोग खास खास तरह की भूलें बार बार किया करते हैं। उसका कारण स्वभाषा के मुहावरे और भाषा–रूढियां होती हैं। गुजराती में जिसतरह से बोलने की रूढि है, हिंदुस्तानी में उसतरह की नहीं है। गुजराती मनुष्य हिंदुस्तानी में बोलते समय स्वभाषा का अनुवादात्मक रूढिप्रयोग कर देता है। वह हिंदी में गलत समझा जाता है।

फिर, कहीं कहीं स्वभाषा में कई संस्कृत या अरबी-फारसी शद्वों का गलत उपयोग रूढ हो गया है। हमारी जबान से उन्हींका उपयोग हिंदुस्तानी में होने का संभव रहता है। उदा०, गुजराती में हम कहते हैं 'अेमां कांई वजूद नथी।' यहां शायद वजह की जगह 'वजूद' चल गया है। वजूद के मानी उर्दू में तो बताये गये हैं मनोरथसिद्धि, सामर्थ्य, शरीर वगैरा। लेकिन गुजराती आदमी के लिअे हिंदुस्तानी में उसका गलत उपयोग कर देना स्वाभाविक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। इसी तरह गुजराती में 'दहशत' को हम भय का पर्याय समझते हैं। लेकिन, मालूम होता है कि हिंदुस्तानी में वह जबरदस्ती या धमकी से उत्पन्न होनेवाले भय के लिअे ही चल सकता है। इसलिअे अैसे शब्दों की भूलें सहज हो जाना संभव है।

तीसरे प्रकार की भूलें शब्दों के लिंगों के बारे में होंगी। कुछ शब्द गुजराती में पुल्लिग में या नपुसकलिंग में होते हैं और हिंदुस्तानी में स्त्रीलिंगी; या कभी इसके उलटा होता है। हिंदुस्तानी सीखने में यह अेक बडी मुश्किल उत्पन्न करनेवाली चीज है। उदा०—गुजराती 'आत्मा' और 'सामर्थ्य' का स्त्रीलिंगी उपयोग देखकर हैरान हो जाता है, और गुजराती जब 'असर' का स्त्रीलिंग बनाता है, तब हिंदुस्तानी को ताज्जुब होता है। शायद संस्कृत और फारसीकुल की भाषाओं में लिंगों की उतनी ही अराजकता है, जैसी अंग्रेजी में स्पेलिंग की।

हिंदुस्तानी सीखनेवालों के लिअे आपको अैसी अेक किताब बनाना होगा, जिसमें अैसी भूलों को बताया हो, और अैसे शब्दों का संग्रह किया गया हो।

अैसे ही सवाल शुद्धलेखन के विषय में भी उत्पन्न होंगे। अेक ही शब्द हिंदुस्तानी में दीर्घ तो गुजराती में ह्रस्व, और हिंदुस्तानी में ह्रस्व तो गुजराती में दीर्घ, अथवा हिंदुस्तानी में युक्ताक्षरों में तो गुजराती में भिन्नाक्षरों में लिखने का नियम पाया जायगा। कुछ अरबी-फारसी शब्द उर्दू में तत्समरूप में लिखे जाते हैं और उनका शुद्ध अरबी-फारसी उच्चारण किया जाता है, लेकिन गुजराती में उनके तद्भव रूप और गुजराती उच्चारण रूढ हैं। यहां गुजराती में भी तत्सम रूप और असली उच्चारण शुरू करने की विद्वानों में प्रवृत्ति होना संभव है। उदा०—जुल्म-जुलम, बाज़ार-बजार, मज्दूर-मजूर, फर्क-फरक, बल्कि-बलके, लाजिम-लाजम बगैर-वगर, वगैरा-वगैरे। इस विषय का भी आपको विचार करना होगा। अत्यंत शुद्धि और अत्यंत प्रान्तीयता दोनों के आग्रह को टाल कर सामान्य जनता की दृष्टि से सरल मार्ग निकालना होगा।

फिर आती है उच्चारण की बात। शुद्ध उच्चारण में दक्षिण भारत में गुजरात का नंबर सबसे आखिरी है। और गुजरात में भी शायद सूरत का। सूरतवासी श-स का भेद तो याद ही नहीं रख सकते। स और छ, स और ह आदि भी हमारे लिअे मुश्किल हर्फ हैं। यह गुजरात के लिअे शोभा की बात नहीं है। गुजराती की जीभ में कोई अैसा दोष नहीं है, जिससे शुद्ध उच्चारण करना उसके लिअे असंभव हो। लेकिन, शुद्ध उच्चारण पर हमारे प्रान्त में मिहनत ही कम की जाती है। यह अध्यापन-मंदिर सिर्फ कामचलाऊ हिंदुस्तानी सीखने के लिअे नहीं है। इसलिअे अध्यापकों को चाहिअे कि वे राष्ट्रभाषा का शुद्ध उच्चारण ही करें। अगर स्वयं अध्यापक शुद्ध उच्चारण न कर सकता हो, तो वह अशुद्ध उच्चारों की परंपरा को ही बढाता रहेगा। इसलिअे मेरी तो यह राय है कि अध्यापकों के उच्चारों की मौखिक परीक्षा लेनी चाहिअे, और उसमें पास होने के लिअे फीसदी ८० गुण मिलने चाहिअे। अगर इतनी कडी परीक्षा रक्खी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जायगी तो मुझे विश्वास है कि थोडे ही वर्षों में महाराष्ट्रीय, तेलगु या तामिळ ब्राम्हणों के बराबर गुजरात का उच्चारण शुद्ध हो जायगा।

फिर आती है लिपि की बात। आपकी योजना में मैंने देखा कि आपने दोनों लिपियों का ज्ञान आवश्यक नहीं माना है, और विद्यार्थी को किसी भी अेक को पसंद करने की रजा दी है। यह मैं ठीक नहीं समझता। याद रहे कि आप अध्यापक तैयार कर रहे हैं, न कि केवल अपने लिअे हिंदुस्तानी सीखनेवाले। वे अधिकतर भिन्न भिन्न स्कूलों में शिक्षक के काम में लग जाना चाहेंगे। वहाँ उन्हींका ज्यादा पसंद किया जाना संभव है जो दोनों लिपियों को जानते हों। वर्धा-योजना और बंबई सरकार की जोशी-कमिटी ने भी अध्यापकों के लिअे दोनों लिपियाँ जानना जरूरी समझा है। इसलिअे मेरी सिफारिश है कि आप दोनों लिपियों को अच्छी तरह पढावें और उनका पढ़ना फर्ज के तौर पर जरूरी कर दें।

यह लिपियों का झगडा भी मुझे अखरता है। नागरी लिपियों के अेकीकरण के मेरे प्रयत्न को शायद आप जानते ही हैं। लेकिन, मैं यह भी कहना चाहता हूं कि मेरे मन में फारसी लिपि के लिअे विरोध नहीं है। हमें दोनों लिपियों की ओर समान इज्जत से ही देखना होगा। अगर मेरे मन में यह भाव हो कि मैं नागरी को ही अच्छी समझता हूं, लेकिन उर्दू को सहन कर लेता हूं, तब मेरे मन में चोरी है। और उसका परिणाम उर्दूवाले के दिल पर भी वैसा ही होगा। यानी, वह भी इच्छा करेगा कि उर्दू की विजय हो और नागरी धीरे धीरे लुप्त हो जाय। मानसिक संघर्ष में से ही आगे व्यवहार में संघर्ष पैदा होता है। मैं इसे ठीक नहीं समझता। जोशी-कमिटी की रिपोर्ट में मैंने देखा कि श्री अब्दुल-हमीद काझी आदि छः सज्जनों ने अेक भिन्न-मत की नोट लिखी है। उनकी राय है कि बुनियादी (वर्धा-) शिक्षा के बाद की पढ़ाई में भाषा के सब विद्यार्थियों के लिअे दोनों लिपियों का ज्ञान लाजिमी होना चाहिअे। और मेरी भी यही राय है और उनके नीचे दिये हुअे उद्गारों से मैं सहमत हूं। (यद्यपि उसे प्रकट करने की मेरी भाषा कुछ भिन्न होगी)।

"हमें बहुत डर है कि हमारी सूचना का स्वीकार न किया जायगा तो लडके सिर्फ हिंदी या सिर्फ उर्दू ही सीखेंगे। अलबत्ता, इससे इन दोनों भाषाओं की समृद्धि और विकास होगा, लेकिन वे अलग अलग प्रवाहों में बहेंगी और अेकदूसरे पर अपना असर न डाल सकेंगी। हम हिंदी और उर्दू का विकास सिद्ध कर लेंगे, लेकिन अेक राष्ट्रभाषा यानी हिंदुस्तानी का निर्माण करना स्वप्न ही रहेगा, जो शायद कभी सफल न होगा। अैसे कई सवाल पैदा हो जायेंगे, और हमें देश के कामों के लिअे दो भाषायें चलानी पडेंगी। लेकिन, अगर हम अेक राष्ट्रभाषा का निर्माण करने में सफल हो जायँ, तो संभव है कि परस्पर सद्भाव और सहयोग से अेक लिपि करने में भी कामयाब हों। परंतु अगर शुरू से ही हमारे मार्ग भिन्न रहे, तब तो वैसा होने की कोई आशा नहीं की जा सकती।"

आपके मंडल की रिपोर्ट के अेक वाक्य की तरफ मेरा ध्यान गया है। आपने सूरतवासियों से निवेदन किया है कि "हमारा अभीतक का यह अनुभव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि यहां का प्रत्येक व्यक्ति यह समझ बैठा है कि 'हम हिन्दी जानते हैं'। मगर यह मिथ्याभिमान है। कम से कम 'विशारद' या 'कोविद' तक का नियमित अध्ययन किये बिना हिंदी का ज्ञान नहीं हो सकता।"

इस विधान का मैं समर्थन करता हूं। क्योंकि हिंदी और गुजराती निकट की भाषायें हैं इसलिअे साधारणतया गुजरातियों को यह खयाल हो जाता है कि हिंदी में क्या पढ़ना है? 'ने', 'ना' की जगह 'को', 'का' और 'छे' की जगह 'है' करने से हिंदी हो जाती है। इस मिथ्याभिमान से गुजरातियों को भाषा सीखने की होड़ में पिछड़ जाना होगा। क्योंकि जब अंग्रेजी का स्थान हिंदुस्तानी ले लेगी, तब जैसी-तैसी भाषा से काम न चलेगा। आज मैं देखता हूं कि गुजरातियों की अपेक्षा महाराष्ट्रियों ने हिंदुस्तानी में ज्यादा प्रगति की है, आंध्र और तामिळों ने उनसे भी ज्यादा। क्योंकि वे मिथ्याभिमान नहीं रखते हैं। वे जानते हैं कि हिंदुस्तानी उनकी स्वभाषा नहीं है। इसलिअे जिस प्रकार ध्यानपूर्वक हम अंग्रेजी पढ़ते हैं, उसी तरह वे हिंदी भी सीखते हैं। देखिये, स्वयं बाला साहेब खेर ने हिंदी की दो परीक्षायें पास की हैं। गत अप्रैल में मैं मद्रास की ओर गया था, उस वक्त क्या देखा कि श्री राजगोपालाचार्य रेल में एक उर्दू पुस्तक सीख रहे थे! कर्नाटक में श्री. गंगाधरराव देशपांडे ने हिंदी की परीक्षा नहीं दी है, लेकिन उतनी तैयारी कर रक्खी है और चाहे जब दे सकते हैं। उनके बहुतसे कार्यकर्ता हिंदी की परीक्षाओं में उत्तीर्ण हैं। इन सब के लिअे परीक्षा महत्त्व की चीज़ नहीं है। लेकिन इससे यह साबित होता है कि वे सब व्यवस्थित रीति से शुद्ध भाषाज्ञान प्राप्त करने के लिअे प्रयत्नशील हैं। गुजरात में यह इच्छा कम है। मेरे पास अहिंदी प्रान्तों में से गुजरात और महाराष्ट्र के सेवक कई बार हिंदी में अपने काम का निवेदन भेजते हैं। मुझे कहना चाहिअे कि गुजरात के ब्यौरे बहुत ही अशुद्ध हिन्दी में होते हैं। आपके सामने नमूने पेश करके आपका मन बहला सकता हूं। लेकिन इसमें मेरे साथियों की हँसी होगी, इसलिअे वह न करूंगा।

आखिर में वर्धा में हिंदी-प्रचार विद्यालय को खोलते समय पू० बापूजी ने जो संदेशा अध्यापकों और विद्यार्थियों को दिया था, उसे सुनाकर मैं इस लंबे भाषण को पूरा करूंगा—

"यह कहने की जरूरत नहीं कि जो प्रचारक साहित्यिक योग्यता नहीं रखते, उनसे यह काम चलने वाला नहीं, पर यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि जिनमें चारित्रिक योग्यता का अभाव होगा, वे किसी अर्थ के साबित नहीं होंगे।

"...इस भाषा पर आधिपत्य प्राप्त करने का मतलब सिर्फ यही नहीं है कि जनता जिस आसान हिन्दी—हिन्दुस्तानी को बोलती है, उस पर हम अपना आधिपत्य कर लें, बल्कि संस्कृत शब्दों से पूर्ण ऊंची परिष्कृत हिन्दी तथा फारसी और अरबी अलफाज से भरी हुई उर्दू जबान पर भी हम कमाल हासिल कर लें।

"पर मैं उनके देवनागरी या फारसी लिपि के अथवा हिन्दी व्याकरण के अज्ञान को बरदाश्त कर लूंगा। लेकिन उनकी चारित्र्य की कमी को तो मैं एक क्षण के लिये भी बरदाश्त नहीं कर सकता। हमें यहां अैसे आदमियों की जरूरत नहीं है, और इन उम्मीदवारों में अगर यहां कोई ऐसा व्यक्ति हो, जो इस कसौटी पर न उतर सकता हो, तो उसे अभी चला जाना चाहिअ।..."

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुशासन-दण्ड का प्रयोग

(दादा धर्माधिकारी)

अनुशासन-भंग के लिए दण्ड का प्रयोग सभी प्रान्तों में थोड़ा बहुत हो रहा है, और कुछ पुराने तथा पक्के कांग्रेससदस्यों को शासन दिया जा रहा है। यह गंभीर परिस्थिति का द्योतक है और हमें उसका विचार करना चाहिए। कांग्रेस का अनुशासन उसकी कार्यक्षमता और शक्ति का प्राण है। बिना अनुशासन के कोई भी संस्था जी नहीं सकती। विदेशी सत्ता से निःशस्त्र संघर्ष में लगी हुई एक असंगठित जनता की प्रतिनिधि कांग्रेस जैसी राष्ट्रसभा तो अनुशासन के सिवाय सुतरां नहीं जी सकती। इसलिए अनुशासन-भंग पराधीन देश में राष्ट्रीय पातक ही माना जाना चाहिए, और उसके लिए अहिंसा के तत्त्व के अप्रतिकूल दण्ड भी दिया जाना चाहिए। जब तक कांग्रेस केवल रचनात्मक उपक्रमों द्वारा और प्रतिकारात्मक कार्यक्रमों द्वारा ही सेवा करती थी तब तक उसके सदस्यों में जो अनुशासन था वह स्वेच्छा-प्रेरित और इसीलिए अधिक कल्याणकारी था। परन्तु जब से कांग्रेस ने सरकार-निर्मित प्रातिनिधिक संस्थाओं में जाने का निश्चय किया तब से उसके नेताओं को अधिक सावधानी, सतर्कता, तथा कड़े अनुशासन की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। कारण स्पष्ट है। सरकार की बनायी हुई इन संस्थाओं में सेवा का मौका तो मिलता है, लेकिन साथ ही साथ कुछ प्रतिष्ठा और अधिकार भी। कांग्रेस कोई गिनेचुने मुमुक्षुओं की संगत नहीं है। वह एक ध्येय, एक नीति और एक साधन को ईमान से माननेवालों की एक बहुत व्यापक राष्ट्रीय संस्था है। उसके सदस्यों में भी सम्मान का मोह और अधिकार की लालसा तो है ही। इन विकारों को काबू में रखने के लिए अब कुछ अधिक सख्त अनुशासन की ज़रूरत मालूम होने लगी। क्योंकि अब तो कांग्रेस अधिकार-ग्रहण का ख़तरनाक प्रयोग करने की हिम्मत कर रही थी। जवाहरलालजी ने इसी उद्देश से अनुशासनभंग के लिए सज़ा करने का सिलसिला चलाया। कुछ समय तक उसका बहुत अच्छा असर भी हुआ।

लेकिन अब इस प्रश्न का पुनर्विचार करना ज़रूरी हो गया है। सवाल यह उठता है कि क्या अनुशासन-भंग की सज़ा का जो मूल वांछनीय उद्देश था, वह सफल हो रहा है? आज की परिस्थिति को देखकर इस प्रश्न के उत्तर में हां कहना मुश्किल है। इसकी क्या वजह है?

अहिंसक संस्थाओं का अन्तिम आधार तो नैतिक बल ही हो सकता है। यह नैतिक बल त्याग, तितिक्षा और वीरता का परिणाम होता है। अहिंसक संस्थाओं का अनुशासन तभी तक टिकता है जब तक उनका यह मुख्य आधार कायम रहता है। उसके शिथिल होते ही अनुशासन भी ढीलाढाला हो जाता है। जब संस्था में बुराइयां तेजी से पैठने लगती हैं तो अनुशासनभंग के लिए सज़ा देने के मौके बार-बार आते हैं। अनुशासनभंग की सज़ा की ज़रूरत बार बार पड़ने का साफ़ मतलब यह है कि संस्था में बुराइयां पैदा हो रही हैं और उसका अनुशासन ढीला हो रहा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। अनुशासनभंग के लिए सज़ा देने-वाली कांग्रेस एकमात्र गैर-सरकारी राजनैतिक संस्था है यह तो उसकी ताकत और बड़प्पन की निशानी है, लेकिन उसे अनुशासनभंग की सज़ा अनेक बार देनी पड़ती है यह शुभ चिन्ह नहीं है। 'सबसे बढ़िया सरकार वह है जो कम से कम शासन करती है'—यह कहावत नैतिक बल के आधार पर निर्मित संस्थाओं के विषय में अधिक सत्य है। कांग्रेस का अनुशासन सदस्यों के परस्पर सद्भाव और ईमान पर अधिक निर्भर है, इसलिए अनुशासनभंग के अपराध उसमें कम से कम होने चाहिए।

सत्ता और सम्मान के मतवालों को आज कांग्रेस में आकर अपने हथखंडे खेलने का चिरवांछित सुयोग प्राप्त हुआ है। जो देशप्रेमी और निःस्पृह लोग केवल कर्तव्यबुद्धि से अपनी कांग्रेसभक्ति की रक्षा कर रहे हैं उनकी निष्ठा की अपेक्षा इन नये कांग्रेसियों की आसक्ति बहुत अधिक है। उनकी आसक्ति की बुनियाद है उनका व्यवहारचातुर्य, कांग्रेस की प्रतिष्ठा और सत्ता का अपना व्यक्तिगत महत्त्व बढ़ाने के लिए उपयोग करने की उनकी सिफ़त। उन्हें कांग्रेस की शुद्धि, उसकी शक्ति और उसकी वास्तविक प्रतिष्ठा की रक्षा की दो कौडी भी परवाह नहीं है— कम से कम वह चीज़ उनके लिये दोयम तो है ही। ऐसी हालत में यह बिलकुल संभवनीय है कि वे असली कांग्रेसनिष्ठों की अपेक्षा उसके अनुशासन का पालन बाह्यतः अधिक सावधानी से करें और उसकी दुहाई दें। जो कांग्रेस के सच्चे भक्त हैं वे तो उसकी शुद्धता और कार्यदक्षता बढ़ाना चाहते हैं। उन्हें महत्त्वाकांक्षी और मिथ्याचारी कांग्रेसवादियों का, कांग्रेस-ब्रुवों का, कई मर्तबा विरोध भी करना पडेगा। ये नवागत कांग्रेसध्वजी उन लोगों को अनुशासन के नाम पर निर्वासित कर सकते हैं। यह आज वस्तुस्थिति नहीं है। केवल एक संभावना का संकेत मात्र कर दिया है।

एक ख़तरा और भी है। कांग्रेस में आज दलबन्दी का दौरदौरा है। इन दलबन्दियों की जड़ कोई सिद्धान्त, नीति या कार्यपद्धति सम्बन्धी मतभेद होने के बदले व्यक्तिगत रागद्वेष और रुचि-अरुचि होती है। इसलिए जिस वक्त जो गुट अधिकारारूढ़ होता है उस वक्त वह 'येन केन प्रकारेण' प्रतिस्पर्धी गुट को नामशेष करना चाहता है। अनुशासन का शस्त्र उसे बहुत सुविधाजनक और सुलभ प्रतीत होता है। इस तरह अनुशासन-भंग का असली मक़सद धरा रह जाता है; और वह केवल किसी एक फ़िर्के की सत्ता-स्थापना और सत्ता-संरक्षण का साधन बन जाता है। कल जो लोग बेधड़क कांग्रेस के अनुशासन को ठुकराते थे, आज अधिकारारूढ़ होते ही उसके आला दर्जे के हिमायती बनकर दूसरों को गुनहगार ठहराते हैं— यह दृश्य आज दुर्लभ नहीं रह गया है। अगर यह इसी तरह चलता रहा तो खैर नहीं है। कांग्रेस की स्थिति का मूलाधार जो उसका नैतिक बल, वही जोखम में आजायगा।

एक बात और भी है, जो चिन्तनीय है। काँग्रेस आज अहिंसक होते हुए भी एक युध्यमान संस्था है। लेकिन अहिंसक होने के कारण ही सशस्त्र सेना के अनुशासन-सम्बन्धी सारे नियमों का अनुकरण न तो उसके लिए शक्य ही है और न इष्ट ही। जहां भय और दण्ड सशस्त्र सेना के अनुशासन के आधार हैं, तहां निःशस्त्रसेना का अनुशासन स्वयंस्फूर्त संयम और तत्त्व-निष्ठा पर निर्भर है। इसलिए काँग्रेस जैसी संस्था में ध्येय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और मूलभूत नीति के सम्बन्ध में एकमत होते हुए भी कार्यक्रम के तफ़सील, या अन्य प्रश्नों के विषय में प्रामाणिक और तीव्र मतभेद हो सकता है। जिनका बहुमत के किसी ख़ास निर्णय से मतभेद हो उनको बहुमत की आलोचना और निषेध करने का भी अधिकार तो होना ही चाहिए। अलबत्ता उन्हें शिष्टता और नम्रता की मर्यादाओं का पालन करना तो आवश्यक ही है। किसी संस्था के व्यक्तियों या बहुमत में होनेवाले फ़िरके की निन्दा करते हुए उस संस्था की प्रतिष्ठा और अस्तित्व को ही धक्का न पहुंचे इसकी भी सावधानी रखनी चाहिए। व्यक्तिगत या पक्ष-सम्बन्धी टीकाटिप्पणी की यह मर्यादा–रेषा बडी महीन है। लेकिन मर्यादा की कोई भी रेषा स्थूल नहीं होती यही उसकी ख़ासियत है। जानकी के लिए लक्ष्मणने जो मर्यादा–रेषा खींची थी वह भी ऐसी ही महीन थी, अन्यथा उसका उल्लंघन नहीं होता। इस विषय में अधिकारारूढ पक्ष को उदारता और लोक-संग्रह की वृत्ति से ही काम लेना चाहिए और अनुशासन-दण्ड का उपयोग कमसे कम करना चाहिए। जिस संस्था की सीमायें एकदिन सारे भारत की सीमाओं से समव्याप्त होने वाली हैं उसकी नीति तत्त्व-निष्ठ और न्याय-निष्ठुर होते हुए भी संग्राहक और उदार होनी चाहिए। अन्यथा काँग्रेस निःशस्त्र जनता की सबसे विशाल प्रातिनिधिक संस्था बनने के बदले फौजी मनोवृत्ति वाले इनेगिने लोगों का एक सम्प्रदाय बन जायगी।

यह कोई नहीं कहता कि अनुशासन–भंग के लिए कभी कोई शासन ही न दिया जाय। हम अपनी संस्था का नैतिक बल और प्रतिष्ठा जिस अनुपात में बढ़ा सकेंगे उसी अनुपात में अनुशासनदण्ड के प्रयोग की हमारी सामर्थ्य बढेगी। लेकिन नैतिकता बढ़ने पर अनुशासन-दण्ड की आवश्यकता ही घट जायगी। इस तरह इन दोनों में अन्योन्याश्रय है। राष्ट्र का चरित्र हमारी संस्था में प्रतिबिम्बित होता ही है। आज वह बड़ा उज्ज्वल या उन्नत नहीं है। ऐसी दशा में काँग्रेस में अनुशासन की आवश्यकता और भी अधिक प्रतीत होती है। फ़िरभी आज तो केवल जहां काँग्रेस के ध्येय और मूलभूत नीति का सवाल हो वहींपर कड़ाई से काम लेना चाहिए। जिन्हें वे मंजूर न हों वे अगर अपनेआप न हटें, और नाजायज तरीकों से अपना आसन स्थिर रखना चाहें तो उनके साथ कोई रियायत न करते हुए दृढता और शिष्टता से उनकी बेजा हरकतें बन्द करनी चाहिए। काँग्रेस के प्रस्ताव या उसकी अधिकृत समितियों के निर्णयों और आज्ञाओं के विरोध में कोई प्रत्यक्ष आचार करे तो उसपर भी अनुशासन-दण्ड का प्रयोग करना उचित है। लेकिन इसकी मर्यादा का विस्तार काँग्रेस के प्राथमिक सदस्यों तक बढ़ाना कहां तक उचित होगा यह चिन्त्य है। अलबत्ता, जहां काँग्रेस के ध्येय और बुनियादी नीति का सवाल हो, या ऐसे समय में जब कि उसके अस्तित्व पर ही हमला हो रहा हो, प्राथमिक सदस्यों पर भी अनुशासन के नियम लागू करने पड़ेंगे। तो भी इस में तो शक नहीं कि अनुशासनभंग की व्याख्या प्रत्यक्ष कृति तक सीमित रखना वांछनीय है। काँग्रेस की मुख्य नीति के अविरुद्ध केवल मतप्रचार या बहुमत की तीव्र आलोचना उसकी कक्षा में न आनी चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रत्यक्ष कृति का विचार करते हुए भी उसकी गंभीरता पर ध्यान देना चाहिए और जो केवल उस कृत्य में सहायक हुए उनका विचार अधिक उदारता से होना चाहिए, जैसा कि मध्यप्रदेश के खरे-प्रकरण में डॉ० खरे के साथी श्री. गोळे और देशमुख के साथ हुआ।

परन्तु याद रहे कि कभी कभी मत-प्रचार भी बेजा और अनुशासनभंग की कृति के बराबर हो सकता है। मसलन, यदि कोई काँग्रेस के ध्येय और मौलिक नीति के खिलाफ़ ही प्रचार करने लगे तो उसका प्रचार जायज नहीं माना जा सकता। लेकिन पदग्रहण की नीति के सम्बन्ध में दो रायें हो सकती हैं; और थीं भी। हरएक पक्ष, काँग्रेस की नीति के अविरुद्ध और उसके अनुशासन में रहकर, अपना अपना मत-प्रतिपादन करता था। इसी तरह और बातों में भी मतभेद हो सकता है, और हरएक पक्ष अपना अपना प्रचार भी कर सकता है।

देहली में हाल ही में नागरिक--स्वतन्त्रता सम्बन्धी प्रस्ताव पर जो बहस हुई और उसके बाद विरोधियों ने जो सभा-त्याग किया वह अनुशासन की इस व्याख्या में नहीं बैठता। वहां सवाल कार्यक्रम या किसी खास सवाल के निर्णय का नहीं था। वह प्रस्ताव काँग्रेस की मूलभूत नीति से सम्बन्ध रखता था। इसलिए उस सभात्याग का समर्थन नहीं किया जा सकता। गांधीजी ने जो कुछ लिखा वह उनके लिए है "जो लोग काँग्रेस की मौलिक नीति में विश्वास नहीं रखते"। यहां केवल उन लोगों का विचार है जो काँग्रेस के ध्येय और नीति में सच्चे दिल से विश्वास रखते हैं।

अनुशासन--भंग की मर्यादाओं का यह विवेचन सम्पूर्ण या सांगोपांग नहीं है। यहां तो किंचित् दिग्दर्शनात्मक विवेचन और देश के विचारी तथा चरित्रवान् नेताओं के विचार के लिए थोडीसी सामग्री उपस्थित करने का ही मनशा था।

जो लोग काँग्रेस के सच्चे और निरपेक्ष भक्त हैं, और उसे सबसे बलवान राष्ट्रीय संस्था बनाने में अपनेआपको खपा देना चाहते हैं उनसे भी एक विनय है। वे तो लोक-प्रियता और असत्ख्याति के लालायित नहीं हैं न? ऐसे समय में जब कि काँग्रेस के मूल पर ही प्रच्छन्न और प्रकट आघात हो रहे हैं, उनका यह परम धर्म है कि वे अपने व्यक्तिगत मान-अपमान से, अपनी व्यक्तिगत भावनाओं से और निजी विचारों से उसकी आज्ञाओंको, निर्णयोंको और प्रतिष्ठा को श्रेष्ठ मानें। उसके अनुशासन के पालन में सचेत और तत्पर रहें। यदि विकार के आवेग में, मताभिनिवेश के दौरे में, या गफलत में उनसे उसके अनुशासन के विरुध्द कोई आचार या प्रचार हो गया हो तो उन्हें नम्रतासे अपनी भूल स्वीकार कर काँग्रेस के अनुशासन को मजबूत बनाने में अपनेआपको कृतार्थ मानना चाहिए। संस्था के सन्मुख निरभिमानता वास्तविक स्वाभिमान का लक्षण है। जो काँग्रेस को मानते हैं वे ही अगर उसकी इज्जत न करेंगे, मतभेद होते हुए भी उसके अनुशासन का पालन नहीं करेंगे, उसके गौरव को बढाने में अपना आत्मगौरव नहीं मानेंगे तो इस देश में सामुदायिक जीवन, संघशक्ति और परस्पर सहयोग की आशा करना व्यर्थ है। जो काँग्रेसवाले आज अनुशासनदण्ड का विषय हो रहे हैं उनका ध्यान इस बात की ओर विशेष गंभीरता से हम दिलाते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सारांश, जो काँग्रेस में अधिकारारूढ हैं, उनसे अनुरोध है कि वे अनुशासन-दण्ड का प्रयोग कम से कम करें। जिनसे उनका मतभेद हो गया है, उनकी देशभक्ति और प्रामाणिक मतभेदों की कदर करें। जब विवश होकर अनुशासन-दण्ड का अवलंबन करना पडे उस वक्त भी उसे आपद्धर्म समझकर उसका प्रयोग खेद के साथ करें। विपक्षियों के दांत खट्टे करने के लिए तो उसका उपयोग कतई न किया जाय। संस्था का शुद्धीकरण अनुशासनदण्ड से नहीं हो सकता। उसकी उपयोगिता बहुत ही परिमित है।

वे कांग्रेसवादी जिनको अनुशासन-भंग के लिए दण्ड हो रहा है उनसे हमारा नम्र निवेदन है कि वे भी उसे व्यक्तिगत बैर या राजनैतिक दांव-पेंच का अंग न मानें। किसी व्यक्ति या व्यक्तियों के गिरोह के प्रति उनके दिल में जो गुस्सा या नफ़रत हो उसका विषय वे संस्था को न बनावें। व्यक्तिगत या दल-विषयक विरोध की आंच वे सारी संस्था को ही न लगने दें। अपना विरोध दृढ़ता से लेकिन अनुशासन की मर्यादा में रहकर प्रकट करें।

९-११-३८.

कौअे की नजर से

१. किशोरलाल मशरूवाला

संपादक भाई,

हम बेचारे उल्लुओं के पास श्री कहांसे आयी जो मैं आपको भी एकाध दे दूं? इसलिअे मैं न तो आपके सिर पर श्री का बोझ लाद सकता हूं और न उसे आपके पैरों पर ही रख सकता हूं, इसके लिए माफ़ करें।

मैं नहीं जानता कि आप के 'सर्वोदय' में उल्लुओं का भी कुछ ख्याल किया जायगा या नहीं। यह शक पैदा तो न होना चाहिअे। क्योंकि खुद गीताजी हमारे जैसे रात को जागते रहनेवाले प्राणियों की तरफ बहुत आदर की नजर से देखती हैं, और मैंने सुना है कि आप गीताजी को बहुत मानते हैं। लेकिन मेरे मित्र सवाईभूशुंडी ने मेरे मन में शक पैदा कर दिया है। वह कहता है कि आप भी दूसरे पंडितों की तरह धर्म-पुस्तकों को केवल पढने भर के लिअे ही मानते हैं, अमल करने के लिअे नहीं। वह कहता है कि आप के मन में कौओं के लिअे आदर नहीं है, और न उल्लुओं के लिअे समभाव ही है। इसकी सबूती के लिए अेक बार उसने मुझसे जो बातें कही थीं उन्हें अगर आप चाहेंगे, तो और किसी मौके पर सुनाऊंगा।

पहले हम दोनों की पहचान करा देता हूं। जब आप सत्याग्रहाश्रम, साबरमती में रहते थे, तब से मैं भी वहीं बसेरा करता रहा हूं। आप जब शाम की प्रार्थना करते, तब कई बार आप के सिर पर मंडराकर मैंने आपके दर्शन किये हैं। और मेरा कौआमित्र सवाई-भूशुंडी भी मानो बचपन से वहीं पला हुआ है। आप सब को वह खूब जानता है, और कई बार अपनी कौआ-नजर से आप लोगों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर टीकाटिप्पणी भी किया करता है। मैं आप-लोगों को इतना नहीं पहचानता। क्योंकि हम उल्लुओं को आप लोग बहुतकरके सोते हुअे ही नजर आते हैं।

आश्रम के अहिंसा के वायुमंडल में रहते रहते भूशुंडी की और मेरी अच्छी दोस्ती हो गई है। शाम के बाद जबतक उसकी आंखें नींद से जुड़ा नहीं जाती, और मेरी आंखें अच्छी तरह खुल सकें इतना अँधेरा नहीं छा जाता, हम दोनों अपने 'इमली आश्रम' में गप्पें छांटते बैठते हैं। उस पुराणवाले भूशुंडी से यह मेरा मित्र ठीक सवाई ही है। इसलिअे उसकी बातें सुनते हुए कभी मेरा जी नहीं अघाता।

हमारे संवादों में से कुछ बातों का ब्यौरा मैं आप के सामने पेश करना चाहता हूं। लेकिन, मुझे आप के लिअे आप के संघ के अध्यक्ष का डर लगता है। शायद वे कह दें कि कौअे और उल्लू की बातें सरासर गप हैं, और आपको सत्य के भंग के लिए सज़ा करें तो आप का क्या होगा? भूशुंडी तो कहता है कि इसमें डरने की कोई बात नहीं है। किशोरलाल* इसे हंसी-ठठ्ठा समझ कर हँस देंगे, और कुछ नहीं करेंगे। लेकिन, मैंने तो उनके बारेमें अेक जगह ऐसा पढ़ा है कि किशोरलाल कभी हँसते हैं या नहीं इसमें भी शक है। इसलिअे मैं उल्लू डर रहा हूं। संपादक भाई, अगर आपपर इस लेख की वजह कोई आफत आने का डर हो तो इसे न छापियेगा। मैं आपका अहसान मानूंगा। मैं आपकी हिंसा करना हरगिज़ नहीं चाहता।

बात इस तरह है। जब आपलोग मध्य-प्रांत मंत्रीमंडल की गुत्थी के सुलझाने में लगे हुअे थे तब हम दोनों में कई दिन तक यही चर्चा चलती रही। भूशुंडी दिन भर आश्रम में भटकता फिरता है, इसलिअे अखबारों की सारी बातें उसको मालूम हो जाती हैं, और उन्हें वह मुझे शाम के बाद सुना देता है। उसकी बातें सुन कर मेरे मुंह से यह बात निकल गई कि वर्किंगकमिटी वर्धा के कार्यकर्ताओं में से ही सारा मंत्रीमंडल क्यों नहीं बनाती? सारी बात सुलझ जा सकती है?

तब भूशुंडी ने कहा, "वर्धा में अैसा होशियार आदमी है ही कौनसा जिसे प्रधानमंत्री बनाने लायक समझा जाय?"

यह सुन कर मुझ तो बहुत ही अचरज हुआ। मैंने कहा, 'यह क्या कह रहा है, भाई? सब लोग तो कहते हैं कि जमनालाल बजाज और बापू ने सब होशियार होशियार आदमियों को अपने आसपास इकट्ठा किया है, और तू कहता है कि वहां कोई लायक आदमी है ही नहीं?'

भूशुंडी—मैं ठीक ही कहता हूं। मुझे अेक अेक नाम बताओ मैं सब की बुद्धि की कीमत बताय देता हूं। अेक बात तो मैं थोडे में ही समझा देता हूं। मनुष्य-जाति और कौओं में अेक बडा भेद है। चार या चालीस चतुर कौअे हिलमिल कर साथ साथ रह सकते हैं, और काम कर सकते हैं, और अेक की जगह दस हों तो

---

*हमारे साबरमती में तो बिना 'भाई' लगाये केवल किशोरलाल नाम लेना लगभग पाप माना जाता है। लेकिन, 'दादा' ने गांधीजी के लिअे भी सिर्फ 'गांधी' लिखकर इस रूढि को तोड़ कर नया रिवाज चला दिया है। मैं भी उन्हीं की गैल जा रहा हूं। आशा है आप बुरा न मानेंगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्यादा अच्छा काम करते हैं। लेकिन, दस आदमी अगर साथ मिल कर काम करते हों तो समझ लीजिये कि उनमेंसे अेक ही चतुर होगा। दो चतुर आदमियों का साथ निभता ही नहीं। यही सबूत है कि वर्धा में बुद्धिमान आदमी होने का बहुत कम संभव है।

मैं–मुझे तेरी यह बात नहीं जँचती। अेक किशोरलाल को ही ले लो। आज जहाँ तहाँ उनकी तारीफ के पुल बांधे जा रहे हैं। अरे, मैंने तो यहां तक सुना है कि अेक भाई ने खुद बापू से कह दिया कि आपकी अपेक्षा आपके सिद्धान्तों को किशोरलाल ज्यादा अच्छी तरह समझता है।

भूशुंडी–तुम बडे भोले हो। तोता भी कभी कभी आदमी से ज्यादा साफ उच्चारण करता है। इसलिअे क्या उसका भाषाज्ञान मनुष्यों से ज्यादा होता है ?

मैं–तो क्या तुम किशोरलाल को होशयार आदमी नहीं समझते ?

भूशुंडी–कौओं की जमात में ही नहीं, आदमियों के समाज में भी मैं उन्हें अक्लमंद नहीं समझता।

मैं–यह साबित करना होगा।

भूशुंडी–मैं तैयार हूं। काका के लिअे तो मेरे दिल में बड़ा ही गुस्सा है, फिर भी हुदली के संमेलन में उनकी अेक बात मुझे बडी पसन्द आयी। उन्होंने कहा था कि जब काँग्रेस में फेरवाले और ना–फेरवाले अैसे दो फिरके माने जाते थे, तब अेक तीसरा फिरका भी था, जिसका नाम उन्होंने साथ–फेरवाले (कोचेंजर्स) रक्खा था। यानी जो लोग जिस बाजू बापू फिरें उस बाजू फिरने वाले थे। वे खुद को अैसे अेक साथ–फेरवाले मानते हैं। यह ठीक भी है। इस में कुछ बुद्धि भी है। चाहे अपनी बुद्धि से वे कोई राय भले ही कायम न कर सकें तो भी कम से कम बापू के साथ उसे बदलने की ताकत तो रखते हैं। किशोरलाल तो इन तीनों में से अेक भी नहीं हैं। मैंने उनके लिअे नाम रखा हैं सुस्त–फेरवाले (स्लोचेञ्जर)। उनका सारा जीवन सुस्तफेरों का अेक नकशा है।

मैं—वह कैसे ?

भूशुंडी– देखो, वे जब आश्रम में आये तब उन्होंने महीनो आश्रम के मटके का पानी तक नहीं पिया। आश्रम की रसोई उनके लिअे नापाक चीज़ थी। अगर किसी लडके की तुलसीमाला टूट गयी, और उसने तुरन्त दूसरी न बांधी, तो वे बिगड़ जाते थे, और इस विषय पर काका से कई बार झगडे। टीका, माला, छुआछूत में से उनको निकलते बरसों लगे। बापूने अेक बार कहा इस जमाने में धर्म की तौरपर हमें नियमित कातना चाहिअे। इसका उन्होंने विरोध किया। फिर कुछ साल के बाद खुद ही उसका जोरों से समर्थन करने लगे। हुदली की ही बात सुनिये। वफादारी की सौगंद (राजनिष्ठा की शपथ) के विषय में वे वहां कितने बिगडे। और अेक महीने के भीतर स्वयं बापू की राय का समर्थन करने के लिअे लेख लिखा ! अैसी तो सैंकडों बातें मैं गिना सकता हूं। वे सुस्त–फेरवाले हैं, और यह उनकी मंद बुद्धि का परिणाम है।

मैं– मगर, उनकी ख्याति तो आज उलटी ही है ? यह क्यों ?

भूशुंडी– मनुष्य-जाति इतनी बेवकूफ है कि वह काले को रंग और सफेद को रंग का अभाव कहती है। सचमुच तो काले में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रंग का अभाव होता है, और सफेद में सब रंगों का मिलाप होता है। लेकिन, मनुष्य के दोंदो आंखें होते हुअे भी वह उलटा ही समझता रहता है। इसी तरह वे किशोरलाल को अति बुद्धिमान् समझते हैं। असल में वह अेक मंदबुद्धि आदमी है। मनुष्यों की नजर उलटा देखती है, यह मैं उन्हीं के शब्दों से बता सकता हूं। अपनी 'जीवनशोधन' नामक पुस्तक में उन्होंने जो लिखा है वह मैं सुनाता हूं:—

"कभी-कभी अैसा होता है कि अेक मनुष्य जिस विषय में पूर्ण होता है उसके लिअे उसकी प्रसिद्धि नहीं होती, बल्कि जिस विषय को सिद्ध करने के लिअे वह कोशिश करता है, उसके लिअे वह प्रसिद्ध हो जाता है, और इसलिअे उसका जीवन-कार्य उसके प्रकट मतों से विरुद्धसा दीख पडता है। दो उदाहरणों से यह स्पष्ट करता हूं। निवृत्तिमार्ग के पुरस्कर्ता और ज्ञान को महत्त्व देने के लिए आदि-शंकराचार्य की ख्याति है। फिर भी उनका जीवन हिंदूधर्म की पुनःस्थापना करने के लिअे योजना बनाकर उसको अमल में लाने के लिअे प्रचंड प्रवृत्ति करने में बीता! उसमें उन्होंने अच्छी कर्म-कुशलता भी बतायी। फिर भी कर्मप्रवृत्ति की उन्होंने निंदा ही की! इसका खुलासा यह है कि इस तरह के काम करने की उनमें जन्मसिद्ध कुशलता थी। लेकिन, आत्मज्ञान उन्होंने साधना करके प्राप्त किया। इसलिअे आत्मज्ञान की ही तारीफ करते रहे। इससे बिलकुल उलटा दृष्टान्त लोकमान्य तिलक का है। उन्होंने प्रवृत्ति-धर्म की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिअे परिश्रम किया, लेकिन अपने जीवन में उन्होंने अधिकतर ज्ञानयोग को ही कर बताया। विविध विद्वत्तापूर्ण ग्रंथों का लेखन, अपने मतों का प्रचार करने के लिअे उपदेश, राजनीति में भी नवीन आचार की अपेक्षा नवीन विचार की स्थापना, उन्होंने अच्छी तरह से की। स्वराज्य का विचार उन्होंने दिया, लेकिन स्वराज्यप्राप्ति के लिअे कोई निश्चित योजना या उसका अमल करवाने की कुशलता उनमें न थी। मतलब, वे कर्मयोग के अनुशीलन के लिअे प्रयत्नवान रहे, और कर्मयोग के आचार्य की ख्याति संपादन की, लेकिन उन में जो स्वभावसिद्ध ज्ञानयोग था, उसीका आचरण उन्होंने किया"।

इसी न्याय से किशोरलाल का हिसाब लगा लो। उनमें बुद्धि कम है, और वे उसे बढाने की कोशिश कर रहे हैं। समझदार आदमी जिस चीज़ को नहीं समझता है, उसमें मौन रहता है। लेकिन उनमें तो मौन रहने की भी अक्ल नहीं है। जिस चीज़ को कम समझते हैं, उसी पर ज्यादा लिखते-बोलते हैं। और उनसे भी कमअक्ल लोग उन्हें बुद्धिमानी का प्रमाण-पत्र देते हैं।

मैं– तो क्या किशोरलाल मेरे जैसे अेक उल्लू ही हैं?

भूशुंडी–नहीं। उन्हें मैं तोता कहूंगा।

मैं– तोता तो मनुष्यों को बहुत प्रिय है।

भूशुंडी–हां, इसी से आजकल किशोरलाल भी प्रिय हैं। तोते की तरह वे भावुक भी हैं, इसलिअे आसानी से पाले जा सकते हैं।

मैं–तो फिर मनुष्यों के समाज में उनको मंत्री बनाने में क्या अडचन है? उन्हें हम-लोगों का राज थोडे ही चलाना है?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भूशुंडी–वे कुछ छोटीछोटी चीजें अच्छी तरह कर देंगे। छोटी बातों में सत्याग्रह या दुराग्रह भी रक्खेंगे। लेकिन बडी चीजों में अपने मन के विरुद्ध भी दूसरों का अपने ऊपर अधिकार चलने देंगे। उदाहरणार्थ, अगर उनके शिक्षा-मंत्री 'इ', 'उ', की जगह 'अि' 'अु' जारी करना चाहेंगे, तो मंत्रीमंडल तोड़ देने तक वे नौबत ले जायेंगे। उनके दफ्तर का मुनशी अेकाध बढ़िया कागज़ पर कच्चा मसौदा लिख दे तो उससे नाराज होंगे। वे सारे सरकारी दफ्तरों को हुक्म करेंगे कि जितने भी एक तरफ से लिखे हुए कागज़ बेकाम हो जायं, उनका उपयोग मसौदा लिखने, नकल करने, और लिफाफे बनाने में किया जाय। लेकिन जब वे मनुष्यों का शील सुधारने के लिअे सिनेमा, उपन्यास, अखबार, विज्ञापन आदि पर अंकुश लगाने की बात कहेंगे, तब उनकी कोई नहीं सुनेगा। मैंने सुना है कि जब औरंगजेब गद्दी पर बैठा तब गवैयों ने अेक प्रेत-यात्रा निकाली और औरंगजेब के महल के पास से रोतेपीटते और सिर धुनते हुए जाने लगे। औरंगजेब ने पूछा 'यह कौन मर गया ?' गवैयों ने कहा कि 'संगीतदेवी मर गई है उसे गाडने कब्रस्तान जा रहे हैं।' औरंगजेब बोला, "बडी खुशी की बात है, उसे इतना गहरा गाड दो, कि जिससे उसकी रूह भी बाहर निकलने न पावे।" मुझे डर है कि किशोरलाल प्रधानमंत्री हो जायेंगे तो साहित्य–संगीत और कला तीनों के भक्त अैसा ही कुछ करेंगे। लेकिन, किशोर–लाल में औरंगजेब की हिंमत तो है नहीं, और फिर उस यात्रा में काका शायद संकोच से न शरीक हों तोभी रविशंकर रावल तो होंगे ही, क्या मालूम कन्हैयालाल मुनशी भी शरीक हों जायँ, वे त्रावणकोर वाले रामचंद्रन् तो जरूर होंगे। तब किशोरलाल कहेंगे कि आप उस ठठरी को खोल दीजिये, आपके साहित्य–संगीत–कला को मैं अभयदान देता हूं, उनकी जगह मुझे बांध दीजिये। इसी तरह जब वे सिक्कों की जगह नाज और मूत में लेन-देन करने की बात निकालेंगे तब उनकी कोई नहीं सुनेगा। अब, इन पर भी उनकी राय तो पक्की है, लेकिन वहां वे दब जायेंगे। अगर कभी अेकाध बार आग्रह बता भी दिया, तो भी जहां बापू, काका, वर्किंग–कमिटी, आदि ने कहा कि, किशोरलाल, अभी इसके लिअे समय नहीं आया है, हमारा मान लो, तो दब जायेंगे। मैंने किशोरलाल को बहुत अच्छा पहचान लिया है। फिर भी, अगर मनुष्यों की आप राय लेंगे तो उनके प्रेमियों में से करीब पंचानवे फी सदी कहेंगे कि वे बडे स्वतंत्र राय रखनेवाले आदमी हैं। वे बापू के आगे भी अपनी राय नहीं दबाते हैं! मैं तो कहता हूं कि मनुष्य-जाति का बुध्दिविकास अभी कोयल के बराबर भी नहीं हुआ है। बुध्दि क्या चीज़ है, इसकी उन्हें परीक्षा ही नहीं।

फिरभी, अेक शर्त पर मैं किशोरलाल का मंत्री बनना पसंद करूंगा। वर्किंग कमिटी धारासभा के सदस्यों से यह शपथ लिवाती है कि जब हुक्म हो वे अपनी जगह का इस्तीफा दे देंगे। किशोरलाल की प्रतिज्ञा में इतना फर्क अगर कर दें कि जब तक वर्किंग–कमिटी का हुक्म न होगा वे इस्तीफा देने की बात तक कभी मुंहसे न निकालेंगे, तो मैं उनको अेक बार आजमाना बुरा नहीं समझूंगा।

मैं– यह कैसे हो सकता है ? वर्किंग-कमिटी उनके लिअे कैसे अपवाद कर सकती है ?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भूशुंडी– जमनालाल बजाज को अगर यह विचार सुझाया जाय, तो वे इस शर्त की योग्यता तुरन्त कबूल कर लेंगे। वे फिर वर्किंग कमिटी में सबको समझा सकेंगे।

मैं– अच्छा तो खैर उन्हें जाने दो। काका को पसंद करें तो तुम्हारी क्या राय है?

भूशुंडी–अब तो मेरी आंखें नींद से भर गई हैं। फिर कभी इस प्रसंग को उठायेंगे।

आपका,

आश्रम का उल्लू

पाश्चात्त्य देशों की बेकारी का एकमात्र अक्सीर इलाज

गांधीमार्ग

[मनु सुबेदार, एम्. एल्. ए. (सेन्ट्रल), बी. ए. बी. एस् सी. (अर्थशास्त्र) लंडन, बार-ॲट-लॉ, अध्यक्ष, इंडियन चेम्बर ऑव्ह कॉमर्स.]

महात्मा गांधी कह चुके हैं। इस सन्त ने,— जो निरन्तर मनुष्यमात्र के हित के ही चिन्तन में लीन रहता है, दलितों के उत्थान का ही सतत विचार करता है, कानून की सत्ता की जगह मनुष्यता की सत्ता प्रस्थापित करने की अविरत चेष्टा करता है—संसार को अपना आर्थिक सन्देशा सुना दिया है। पाश्च्यात्त्य देश न तो उसे यथार्थरूप से समझ सके हैं और न आत्मसात् ही कर सके हैं। लेकिन मेरी राय में वे जिस आर्थिक उलझन में फँसे हुए हैं उससे छूटने का वही एक उपाय है। गांधीमत सत्य और अहिंसा का प्रेम सिखाता है। आर्थिक क्षेत्र में इसका अर्थ है यन्त्र की जगह मनुष्य का महत्त्व बढ़ाना। आविष्कारों की प्रगति जहां मनुष्यों का नाश करती है, उनके जीवन को छिन्न-भिन्न कर देती है, उनके क्षितिज को अन्धकारमय बना देती है, और मानवता के सुख की मीजान कम कर देती है, वहां वे उसके साफ़साफ़ खिलाफ़ हैं। निकृष्ट भौतिक क्षेत्र में भी अमेरिका और 'युनाइटेड किंगडम' में लोग अब यह महसूस करने लगे हैं कि श्रम घटानेवाले यन्त्रों की मदद से खेतों पर काम करनेवाले लोगों की संख्या आज की संख्या के एकदशांश तक घटायी जा सकती है। लेकिन ऐसा करने से इन देशों का सर्वनाश हो जायगा। क्योंकि आज ही तो सरकारी अन्नदान पर निर्वाह करनेवाले बेकारों की संख्या वहां पर, क्रमशः, लगभग एक करोड़ और बीस लाख है। ये देश साम्यवाद, फासिज़्म और सर्वाधिकारियों की अनियंत्रित और निरपवाद राज्यसत्ता के सिद्धान्तों के आक्रमण का प्रतिकार करते हैं, यह ठीक ही करते हैं। क्योंकि इन पद्धतियों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारण व्यक्ति की स्वाधीनता का समूल नाश हो जाता है। लेकिन इनकी जगह किस पद्धति का अवलम्बन करें यह वे नहीं जानते। राजनैतिक क्षेत्र में तो फिर भी उन्हें कुछकुछ ऐसा ख्याल है कि प्रातिनिधिक शासन और मन्त्रीमण्डलों की पद्धति ही श्रेयस्कर है। लेकिन आर्थिक क्षेत्र में उनकी मानों अक्ल ही काम नहीं करती। नतीजा यह हुआ है कि उनके देश में लोग नितान्त दुःखी हैं; और उनके साम्पत्तिक केन्द्रों में जो शिथिलता आ गयी है उसकी प्रतिक्रिया सारे संसार के बाजारों की सुरक्षितता और विनिमय पर हुए बिना नहीं रही है। इस व्यापारिक मन्दता के कारण बाजारों पर मानों पाला पड़ गया है।

सरकारी हस्तक्षेप की आवश्यकता

भारतवासियों की यह परंपरागत धारणा है कि महापुरुषों की मामूली से मामूली बातों में भी अपरिमित बुद्धिमानी होती है। मैं पुनः एक बार यहां यह कहना चाहता हूं कि दुनिया के कई देश जिस आर्थिक अस्वास्थ्य से कष्ट पा रहे हैं उसके उपचार के विषय में बिलकुल अन्तिम बात म० गांधी के उपदेशों में ही मिलेगी। केवल एक विचार-प्रणाली के रूप में अर्थशास्त्र थोथा नहीं है। लेकिन वह केवल तर्कनिष्ठ है। सम्पत्ति और लाभ से उत्पन्न होनेवाले विचारों से केवल तार्किक परिणाम ही निकालने में उसने अपनेआपको चरितार्थ मान लिया है। इसीलिए पुराने ज़माने में लोग उसे तमोमयी विद्या कहा करते थे। लेकिन अब यह सिद्ध हो चुका है कि सम्पत्ति और लाभ सम्बन्धी सारे सिद्धान्तों का नियमन मनुष्य जीवन पर उनका जो परिणाम होता है, उसी दृष्टि से करना चाहिए। कुछ बातें ऐसी होती हैं, कि जो गैर-कानूनी न होते हुए भी, कुल मिलाकर, समाज-हित की दृष्टि से घातक होती हैं। उनमें सरकार को दखल देना पड़ता है। संसार की सभी सरकारें अब इस बात को कुछकुछ महसूस करने लगी हैं। लेकिन दुर्भाग्यवश यह प्रतीति इतनी मन्द है कि उसकी प्रतिक्रिया हानि हो जाने के बाद उसका उपचार करने तक ही सीमित है। परन्तु गांधीमत का तो सारसर्वस्व यही है कि हानि होने से पहले ही उसका प्रतिबन्ध करना चाहिए।

समाजवादी

समाजवादियों का जो दावा है उसका विचार पहले करना उचित होगा। ये लोग समानता की बातें करते हैं और किसान और मजदूरों के प्रतिनिधि होने का दावा करते हैं। वे समाज से नफेबाजी की सौदागरी वृत्ति को उठा देना चाहते हैं, लेकिन जो वे प्रतिपादन करते हैं उसका एक अंश भी कार्यान्वित करने के लिए उनके पास कोई विधायक पद्धति नहीं है। सुयोगों से लाभ उठाने की जिस वृत्ति के लिए वे पूंजीपतियों को दोष देते हैं उसका वे खुद भी परित्याग करते हुए नज़र नहीं आते। विलासी जीवन के अवसरों को जानबूझकर छोड़ देना चाहिए ऐसी उनकी धारणा भी नहीं है। इसके विपरीत, गांधीमत निःसंशय एक विधायक मार्ग है। वह फूट की जगह एकता, अविश्वास और जुगुप्सा की जगह प्रेम और विश्वास सिखाता है। अभीतक गांधीमत की सिखावन का सारा जोर समाज-रचना को इसतरह दुरुस्त करने पर रहा है कि जिससे दलित, वंचित और शोषित वर्गों का भला हो। लेकिन उस सिखावन का मुख्य सूत्र प्रति-दमन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रति-वंचना या प्रति-शोषण नहीं है। गांधीमत न्याय और मानवता का पुरस्कर्ता है। वह एक ऐसी सिखावन है जो अपने प्रवर्तक के जीवन में आत्यन्तिक त्याग और अपरिग्रह-सम्पत्ति के सम्पूर्ण त्याग- के रूप में परिणत हुई है। दोषदर्शकों की निगाह में महात्माजी के अनुयायी इस आदर्श से कहीं दूर हैं। लेकिन इस कारण वह पद्धति सदोष नहीं सिद्ध होती। आज सारे भारतीय समाज में उत्सव और समारोहों में, तथा वेशभूषा आदि में जो सादगी नज़र आती है वह इसी सिखावन का नतीजा है। एक पीढी पहले जाति-भेद और वर्गभेद का जो प्रभाव था वह आज नहीं है। इस सिद्धान्त के आधार पर बननेवाले समाज की अभी तो नींव ही डाली जा रही है। इतनी जलदी परिणामों की आशा करना उचित न होगा। फिर भी किसी निष्पक्ष प्रेक्षक के मन में इस विषय में कोई सन्देह नहीं रह सकता कि समाजवाद के नक्कारे बजानेवालों की अपेक्षा गांधी-मतावलम्बी अपने आदर्शों में, अपनी व्यक्तिगत दृष्टि, व्यवहार और स्थिति में जनता के हित-साधन की अधिक प्रामाणिक आस्था रखते हैं।

महात्माजी के आर्थिक सिद्धान्तों का हिन्दुस्तान की परिस्थिति में विनियोग करना शुरू हो गया है। हालांकि अभी कागजी योजनायें ही हैं और उनको कार्यान्वित करने में बहुत बडी प्रगति नहीं हुई है, फिर भी उन प्रयत्नों की दिशा स्पष्ट है। विशेषकर 'हस्त व्यवसाय द्वारा शिक्षा' के सिद्धान्त के आधार पर बनी हुई वर्धा-योजना, इस देश के बेहुनर और असंगठित देहातियों को, एक पुश्त के भीतर, स्वच्छ, हृष्टपुष्ट, और स्वाश्रयी पुरुष और स्त्रियां बना देगी। लेकिन यह लेख तो मैं पश्चिमी देशों में फैली हुई बेकारी पर गान्धी-मत की दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट उपाय बतलाने के उद्देश से लिख रहा हूं।

बेकारी का सवाल

सबसे पहले यह कह दूं कि पश्चिमी अर्थशास्त्री, राजपुरुष, राजनीतिज्ञ, समाज-सुधारक और दयाधर्मी लोगों के सामने जो समस्या पेश है, उसे हल करने के विषय में वे लगभग निराश ही हो गये हैं। वे अब अपनी आत्मा को इस विचार से सान्त्वन देना चाहते हैं कि जहां बडे पैमाने पर उद्योगी-करण होता है उस राष्ट्र में थोडीबहुत अव्यवस्था का होना अनिवार्य ही है। फलतः वहां हमेशा थोडेसे बेकार रहेंगे ही। लेकिन ये बकार थोडेसे नहीं हैं। उनकी तादाद बढ़ती ही जा रही है, और सरकारी भिक्षा पूरी या अधुरी पान के कारण, अथवा बिलकुल ही न पाने के कारण, उनमें से बहुत से व्यक्ति मनुष्यता से गिर गये हैं। जिस देश में बेकार, या जो किसी भी उद्योग में नहीं लगाये जा सकते, ऐसे व्यक्तियों का अखंड सोता बहता हो उसकी न तो भौतिक उन्नति हो सकती है और न आध्यात्मिक। अमेरिका की सरकार व्यापार में जिस प्रकार का हस्तक्षेप करती है उससे, या समाजवादियों के सिद्धान्तों के अनुसार, निजी सम्पत्ति और स्वामित्व सम्बन्धी स्वत्वों के आमूलाग्र परिवर्तन से, यह परिस्थिति नहीं सुधर सकती। अमेरिका जैसे देश में खेती से पैदा होनेवाली चीजों की इफ़रात है और उनका भाव बहुत गिरा हुआ है। मांग के अभाव में कारखानों में माल की उत्पत्ति पर नियंत्रण लगा दिया गया है। किसान, मजदूर और व्यापारी, सभी दुखी हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और इनके अलावा वे बेकार हैं जिन्हें किसी न किसी रूप में सरकारी भिक्षा देनी पड़ती है।

गांधीमत के तत्त्व

इस परिस्थिति पर गांधीजी के सिद्धान्त लागू करने हों तो, मेरी नाकिस राय में, रोज़मर्रा की ज़रूरत की चीजों का बहुत बड़े परिमाण में यन्त्रों द्वारा बनाया जाना बिलकुल बन्द कर देना होगा। उसके बदले ये चीजें हाथ से चलनेवाले यन्त्रों द्वारा बनायी जायेंगी और अलग अलग जगहों में थोड़ी थोड़ी मात्रा में उनका उत्पादन होगा। यह मानी हुई बात है कि श्रम बचानेवाली यंत्रसामग्री हटा दी जाने पर इन चीजों की कीमत कुछ बढ़ जायगी। लेकिन इसके विपरीत वे लाखों व्यक्ति जो आज बेकार ही नहीं बल्कि इस ख्याल से निराश हो गये हैं कि न तो हम अपने लिए कुछ कर सकते हैं न दूसरों के लिए; इस विचार से अनुप्राणित हो उठेंगे कि हम भी समाज की कुछ न कुछ उपयोगी सेवा कर रहे हैं। उनकी बनायी हुई चीजों के दाम के रूप में उन्हें मिहनताना मिलेगा। इस तरह उन्हें बहुत थोड़ा पारिश्रमिक भले ही मिले; लेकिन आज उन्हें मिलनेवाली भिक्षा की अपेक्षा वह कहीं बेहतर होगा। अलबत्ता, बाहर से उसी तरह का यन्त्रों द्वारा बना हुआ जो सस्ता माल आयगा उसे या तो रोक देना होगा या उसपर बहुत भारी चुंगी लगानी होगी। इस तरह के उत्पादन के लिए आहार, गृहस्थी-सम्बन्धी या वेषभूषा सम्बन्धी कौन कौनसी चीजें पसन्द की जायं, यह तो हरएक देश की परिस्थिति विशेष पर और अमेरिका जैसे बड़े देशों में हरएक राज्य की खास परिस्थिति पर, निर्भर रहेगा। इसके लिए अनेक कानूनी और भौतिक परिवर्तनों और योजनाओं की आवश्यकता रहेगी। परन्तु आज जो समस्या हल होना असंभव मालूम होता है उसका यही एकमात्र हल है। हम यह नहीं कह सकते कि अधिक से अधिक यही किया जा-सकता है। मगर यह तो मानना ही पड़ेगा कि मानवता के हित के लिए कम से कम इतना तो करना ही चाहिए।

यंत्र या मनुष्य ?

मानवता के हित की दृष्टि से प्रगति का नियमन करना गांधीमत का मूलभूत तत्त्व है। मनुष्यों के किसी समुदाय या वर्ग की निष्क्रियता देखकर उसके रोंगटे खड़े हो जाते हैं। जहां अनिवार्य हो वहां सहायता पहुँचाना भी उसे नामंजूर नहीं है, लेकिन वह पसन्द तो स्वाश्रयी और निर्दोष काम देने की पद्धति को ही करता है। पाठक को जिस प्रश्न पर विचार करना चाहिए वह यह है:— अमेरिका जैसे देश में आज बहुतेरी चीजें श्रम बचानेवाले यंत्रों द्वारा बनती हैं। अगर उन चीजों के बनाने का काम वहां के बेकारों को दे दिया जाय, तो क्या मानवीय सुख की दृष्टि से उस देश की प्रगति नहीं होगी? "श्रम बचानेवाले यंत्रों" के नाम से ही यह स्पष्ट है कि वे आदमियों से काम छीन लेते हैं। आर्थिक प्रश्नों का पच्चीस साल तक गहराई से अध्ययन करने के बाद मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूं कि, भारतवर्ष जैसे देश में प्रत्यक्ष काम के लिए मिलने-वाले अल्प वेतन से भी कई लोगों का भौतिक और नैतिक हित होगा, और ऐसी हालत में वहां श्रम बचानेवाली तरकीबों का मर्यादा से बाहर उपयोग होने का डर है। इसमें कोई शक नहीं कि कुछ पश्चिमी देशों में इनका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हद से ज्यादा उपयोग किया गया है। 'हद से ज्यादा' कहने का कारण यह कि उन देशों में इनकी बदौलत ऐसे मनुष्यों का निर्माण हुआ है जो किसी काम में लगाने लायक नहीं रहे। अब समाज के आर्थिक जीवन में फिर उन्हें किस तरह मिला लिया जाय यह सवाल है। लड़ाई की तैयारियां या सरकारी कामों की खर्चीली योजनाओं से थोडे समय तक इन बेकारों को काम भले ही मिल जाय; लेकिन उसका रूप स्थायी नहीं हो सकता। नफेबाजी के लिए नहीं, बरन लोगों को काम देने की दृष्टि से, उत्पादन का नियंत्रण करना यही एक मात्र कारगर इलाज है।

आर्थिक पुनर्व्यवस्था

मैं यह नहीं भूल रहा हूं कि इस छोटी-सी रूपरेखा में, म० गांधी के सिद्धान्तों को मैं जिसतरह समझ सका हूं उसीके आधार पर, पश्चिम के व्याकुल विचारकों के सामने अपनी सूचना पेश करने में, मैंने कई जटिल समस्याओं को इस ढंग से प्रस्तुत किया है कि मानो वे आसान ही हों। मैं जानता हूं कि उक्त योजना कार्यान्वित करने से पहले कई तरह के तथ्यों का विचार करना होगा। फिर भी मूलभूत कल्पना तो पेश करना आवश्यक था ही। मैंने उसे, यूरोप और अमेरिका के राजनीतिज्ञों को परेशान करनेवाली सबसे बडी आर्थिक समस्या के सर्व श्रेष्ठ हल के रूप में पेश किया है। मैं जानता हूं कि प्रचलित विचारपद्धति और अभिरुचि के यह खिलाफ है, और कई तरह के हितसंबंधों को उससे घबड़ाहट भी होगी। यंत्रों के आविष्कारकों से लेकर, उनको बनानेवाले, उनका उपयोग करनेवाले, मशीनों से बने हुए माल के खरीदार, उनकी निर्यात और व्यवस्था से सम्बन्ध रखनेवालों तक, सब इसके खिलाफ कोलाहल मचावेंगे। अगर वह अनिवार्य न होती, तो आर्थिक पुनर्व्यवस्था के कष्टों से मैं अपने जानी दुश्मन को भी बचाने की कोशिश करता। बल्कि मैं तो यहांतक कहूंगा कि आज हर एक देश में यह मुसीबत जबरदस्ती करोडों पर लादी जा रही है। समाज के निम्नतम तल पर रहनेवाले इन करोडों को या तो सरकारी भिक्षा का टुकड़ा दिया जाता है जो उन के स्वाभिमान को नष्ट कर देता है, और या--जैसा कि भारतवर्ष में होता है—उनकी कोई सुध ही नहीं लेता, और उन निराश्रितों का स्वास्थ्य और चरित्र दिन प्रति दिन गिरता जाता है। बेहतर तो यह है कि सामाजिक पुनःरचना का बोझ समाज के उच्चतम तलपर आधिष्ठित उन बुद्धिमानों के मजबूत कंधोंपर लादा जाय जो उत्पादन, निर्यात और व्यापार में लगे हुए हैं। देहाती या शहरी मजदूरों पर और उनके परिवारों पर यह भार लादना बिलकुल उपयुक्त नहीं होगा।

आर्थिक स्वयंपूर्णता का सिद्धान्त

मध्ययूरोप के राष्ट्र आज जिस आर्थिक स्वयंपूर्णता के सिद्धान्त से प्रभावित हैं, उससे एक विरोधी प्रवृत्ति की निर्माण होती है। कुछ लोगों को ऐसे नये नये उपक्रमों में लगा देना पड़ता है जिनका आधार आर्थिक बदला नहीं, बल्कि राष्ट्रीय स्वयंपूर्णता होता है। परन्तु ऐसा परिणाम हमेशा अल्पजीवी होता है। यंत्रों की अनिरुद्ध प्रगति का अनिवार्य परिणाम यही होता है कि मनुष्य काम के लिए गुहर करते हैं। सर्वाधिकारी राष्ट्रों में इस चिल्लाहट का नतीजा दूसरों पर आक्रमण होता है, जिसमें रक्तपात, यशापयश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदि कितनी ही ऐसी बातें हैं कि अन्ततो गत्वा उससे कोई लाभ नहीं होता। गत यूरोपीय महासमर का अनुभव यही सबक सिखाता है। एक राष्ट्र की आत्मनिर्भरता का परिणाम जिस अंश में दूसरे राष्ट्रों के कार्य नष्ट-भ्रष्ट करने में होता है उस अंश में वह राष्ट्र अपनी कठिनाइयाँ दूर करने के बदले दूसरों की कठिनाइयां बढ़ाता है। आदर्श तो यह होना चाहिए कि प्रचलित समाज-व्यवस्था में जितनी अच्छी शर्तें और परिस्थिति संभव हो उतनी अच्छी शर्तों पर और परिस्थिति में, हर एक प्रौढ स्त्री और पुरुष को अपनी शारीरिक शक्ति के मुवाफ़िक़ काम मिले। समाज के पचास-फीसदी लोग अगर कोई चीज़ खरीदने के लायक ही न रह जायँ, या उन्हें काम करने का मौका ही न मिले, अथवा वे बेकार हो जायँ, या बेकार होने का उन्हें सदा डर बना रहे, तो बाकी के सकडा-पचास लोगों की मिहनत से समाज की सारी ज़रूरतें पूरी करना व्यर्थ है। हमारा आर्थिक आदर्श सस्ते से सस्ते दामों में विलास की सामग्री निर्माण करना नहीं है; बल्कि सर्व-सामान्य उपयोगी चीजें इस पद्धति से निर्माण करना कि हरएक को सेवा करने का मौका मिले और उसके लिए उचित पुरस्कार भी मिले।

सामाजिक स्थैर्य का मार्ग

हमारी इस योजना पर यह आक्षेप किया जा सकता है, कि जहां अमेरिका जैसे देश में वेतन अधिक से अधिक देने का सिद्धान्त स्वीकार किया गया है, वहां इस योजना की बदौलत बेकारी तो नष्टप्राय होजायगी परन्तु वेतन कुछ समय के लिए घट जायगा। यह तो अपनी अपनी खुशी का सवाल है। आज हमारे सामने दो ही विकल्प हैं। एक तो यह कि हम पश्चिमी देशों की तरह दस-प्रतिशत लोगों को दारुण क्लेश देने वाली देशव्यापी आर्थिक क्षीणता की मौजूदा पद्धति स्वीकारें, या राष्ट्र का वैभव कुछ कम करनेवाली लेकिन कम से कम बेकारी और अधिक से अधिक मानवी सन्तोष की परिस्थिति निर्माण करनेवाली पद्धति को अख़्त्यार करें। याद रहे हमारे सामने केवल आर्थिक विकल्प ही प्रस्तुत नहीं हैं। जहां वेतन अधिक होता है वहां अनैतिक प्रवृत्ति, जिसमें व्यसन और अपराधों की ओर झुकाव भी अन्तर्भूत है, जोर पकड़ती है। और इसके अलावा अनिश्चितता, व्यापारी संकट, शिथिलता और बेकारी का सामना करना पड़ता है। गांधीमत के सिद्धान्तों में मनुष्य सब कुछ है, और भौतिक सुख-साधन महज़ गौण हैं। संसार अपने सामाजिक संजीवन का प्रारंभ गांधीमत के अनुसार करेगा तो उसकी सारी झंझटें दूर हो जायेंगी। सामाजिक स्थैर्य भी गांधीमत के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। क्यों कि जब तक समाज में कुछ थोडे लोग भी आर्थिक दुःस्थिति में रहेंगे तब तक उनमें क्रान्ति की प्रेरणा होती ही रहेगी। गांधीमत भी क्रान्ति चाहता है, लेकिन केवल राज्य-संचालकों का परिवर्तन नहीं, बल्कि मनुष्यों का हृदय-परिवर्तन। अबतक पश्चिम ने कई महंगे और उग्र उपचार आज़माये। मैं जानना चाहता हूं कि क्या वह इसको भी आज़माने का धैर्य और संयम दिखायेगी?

(अंग्रेजी से अनूदित)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैं महारोगियों की सेवा में कैसे लगा ?

[मनोहर बलवन्त दिवाण]

कुछ साल पहले वर्धा नदी में बहुत बडी बाढ़ आयी। किनारे के कितने ही गांव ऊजड़ हो गये। उस समय व्यक्तिगत कानूनभंग का आन्दोलन जारी था। उसको छोड़कर भी बाढ़पीड़ितों की सेवा की ओर मुड़ना पड़ा। बेंबला और वर्धा, इन दो नदियों के संगमपर जो सावंगी नाम का गांव है, वहां तो अनर्थ कर दिया था बाढ़ ने। सिर्फ गांव के पटेल का अकेला मकान बच गया था। उसीका आश्रय लेकर गांव के सब लोगों ने किसी तरह जान बचायी थी। मैं भी उसी क्षेत्र में काम कर रहा था, इसलिए उसी गांव को अपना केन्द्र बनाकर रहने लगा। बाढ़ में जहांतहां से झाड़ और लकडी के कुन्दे बहकर आये, उसी तरह से मैं भी प्रवाह-पतित की तरह आ गया।

इस गांव से थोडी दूरी पर श्रीदत्तात्रय का एक मेला लगता है। वहां रहते हुए मैं भी मेले में गया। पौने तीनसौ सीढ़ियां चढ़कर लोग ऊपर दर्शन के लिए जाया करते हैं। मैं भी ऊपर चढ़ने लगा। लेकिन नीचे से लेकर ऊपर तक क्या देखा कि रास्ते की दोनों तरफ़ हर तीसरी-चौथी सीढ़ी के बाद एक भिखारी बैठा है। इन भिखारियों में ज्यादा-तर महारोगी (कोढी या अपरसी) थे। जो बिलकुल ऊपरी छोर पर बैठा था वह तो बिलकुल टुंडा और लूला था यह बडे ताज्जुब की बात थी। कुछ थकावट के कारण और कुछ कुतूहल के कारण मैंने ज़रा ठहरकर पूछा ये इतने 'महारोगी' कहां से आये हैं ? मालूम हुआ कि वे करीब करीब सभी नदी-किनारे के रहनेवाले थे। इसपरसे मेरा यह ख्याल हुआ कि कोढ़ या अपरस, जिसे हमारे प्रान्त में 'महारोग' कहते हैं, शायद नदी-किनारे की एक विशेष समस्या हो। लौटने पर वस्तुस्थिति जान लेने के लिए पन्द्रहबीस गांवों में गया। सावंगी जैसे साढे-तीनसौ की आबादीवाले गांव में भी छह रोगी थे। जहां गया वहां पांच-दस या पन्द्रह तक कोढी थे। गांववाले कहते, "अजी, कुछ न पूछिये। गजब का फैल गया है। दाग और चित्तियों का तो कोई हिसाब ही नहीं है।"

इस प्रदेश में महारोग बहुत फैल गया है यह तो मालूम हो गया। लेकिन इसका कारण क्या हो सकता है ? दूसरे भागों में इसकी अपेक्षा कम है या ज्यादा है ? आदि प्रश्न दिल में उठने लगे। तहसील में और जगह काम करनेवाले मित्रों से पूछा। उन्हें काम के मारे इस ओर ध्यान देने के लिए न फुरसत थी और न इच्छा। इस कारण मेरी जिज्ञासा और भी बढ़ने लगी। कार्यक्षेत्र छोडकर इधर उधर जाना भी असंभव था। जब कभी किसी काम से कहीं चला जाता तो पूछताछ करता। इस तरह मालूम हुआ कि सारी वर्धा तहसील में यही हाल है। मर्दुमशुमारी के आंकडे देखना, इस विषय की पुस्तकें पढ़ना, रोगियों के बारे में जानकारी हासिल करना आदि उद्योग तो शुरू ही कर दिये थे।

मेरी खोज का परिणाम यह हुआ कि मुझे मालूम हो गया कि इन लोगों की हालत बहुत ही शोचनीय है और सारी तहसील में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रोग बढ़ता ही जा रहा है। तो भी मैंने यह अभीतक नहीं सोचा था कि इस विषय में मैं खुद क्या कर सकता हूं, या क्या करना चाहिए? "जानकारी तो मिल गयी लेकिन अब, आगे ?" इस सवाल ने मुझे सताना शुरू किया।

जब मेरे साथियों ने और कुटुम्बियों ने देखा कि इस विषय में मेरी दिलचस्पी कम होने के बदले बढ़ती ही जा रही है, तब उन-मेंसे कुछ ने तो मुझे कच्ची-पक्की भी सुनायीं। मा जैसे रिश्तेदार तो परावृत्त कराने का यत्न करने लगे। कोई परचुरेशास्त्री का दृष्टान्त देकर डराने लगे। कहने लगे "उसपर भी ऐसा ही ख़ब्त सवार हो गया था। किसी की एक न सुनी। आख़िर खुद अपरसी होकर मर गया।" दूसरे कोई कहते, "दुनिया में परहित के काम एक से एक पडे हैं। कौनसा काम किस आदमी के किये हो सकता है, इस का भी तो कुछ ख्याल करोगे या नहीं? अरे भाई, हम ठहरे मामूली आदमी, हमें तो साधारण लोगों की गैल जाना चाहिए। नया रास्ता खोजने के फेर में पड़ना हमारा काम नहीं है।" सब के कहने का मतलब यह था कि काम अच्छा है, ज़रूरी भी है, लेकिन हमारी ताकत से परे है।

दूसरा कोई ऐसा आदमी नज़र नहीं आया जो इस काम को ले ले। डॉक्टर और वैद्यों की सलाह ली। भला भूतदया के काम को भी कोई बुरा कहेगा? ज़रूरत तो करनेवाले की है। उन्हें इन कामों के लिए कहां अवकाश है? मुझे अपनी शक्ति का भी पूरा-पूरा अन्दाज़ा नहीं था। यह काम उपयोगी तो तभी हो सकता था जब कि वह सेवापूत और शास्त्रशुद्ध हो। जहां सेवा की चाह है वहां डॉक्टरी का ज्ञान नहीं, और जहां डॉक्टरी है वहां सेवा की ख्वाहिश नहीं। ऐसा भंवरजाल था। इसी परेशानी में सावंगी में जैसे-तैसे एक साल बीत गया। इस अवधि में काम तो कुछ नहीं हुआ, लेकिन मैं उस विषय को भूल भी न सका। आश्रम में मेरी नीति, जो काम मिल गया उसे करने की थी। मैंने कभी कोई काम अपने लिए मांगा नहीं था। आश्रम के लोगों की एक विशेषता यह भी है कि जो काम उन्होंने खुद न किया हो उसे करने की सलाह वे दूसरों को अपने आप नहीं देते। इसलिए मेरे सामने दो ही चारे थे—या तो मैं स्वयम् कहूं कि मैं यह काम करना चाहता हूं, और या उस मामले को वहीं ख़तम कर दूं। योग्यता न होते हुए भी निश्चय किया कि काम शुरू तो कर दूं, फ़िर आगे अगर किसी लायक आदमी को प्रेरणा हुई तो उसे सौंप दूंगा। १९३५ के अन्त में एक स्वतंत्र मंडल बनाकर काम करने की बाकायदा इजाज़त मुझे आश्रम से मिल गयी। और इस तरह स काम का सूत्रपात हुआ।

१९३६ के प्रारंभ में इस क्षेत्र में काम करने-वाले एकमेव कार्यकर्ता जो पादरीलोग उनकी संस्थाओं में जाकर अनुभव लिया। इस कार्य में मेरे वास्तविक गुरु चांदखुरी के डॉ. गास (एम्. डी.) हैं। उन्होंने ज़रा भी आना-कानी न करते हुए मुझे सेवाकार्य का अनुभव लेने के मौके दिये और मेरी कमर बँधायी। उन्हींकी कोशिश से, डॉक्टर न होते हुए भी मुझे कलकत्ते की 'स्कूल ऑव्ह ट्रॉपिकल मेडिसिन' की परीक्षा में बैठने की इजाज़त मिली, जो अन्यथा केवल पादरियों को ही मिलती है। भगवान पर भरोसा करके जब मनुष्य काम में लग जाता है, तो वे उसे हर तरह से सहारा देते हैं, इस सत्य का मुझे अनुभव हुआ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चांदखुरी से लौटने पर देवली, वायगांव, वर्धा, आंजी, और सेलू के हिस्से का निरीक्षण किया। पाया गया कि वर्धा तहसील में कोढ़ियों की संख्या एक-प्रतिशत है। वर्धा के जिन सज्जनों को इस काम से प्रेम था उनकी मदद से "महारोगी सेवा मंडल, वर्धा" की स्थापना की। यह मंडल भूतदया के सिद्धान्त पर अधिष्ठित है, लोकाश्रय ही उसका मुख्य आधार है, सभी राजनैतिक पक्षों के सहयोग से वह बना है, लेकिन है पक्षातीत। कम से कम इस प्रान्त में अपरसियों की सेवा के लिए भारतवासियों द्वारा किया गया यह पहला ही प्रयत्न है। शुरू में वर्धा तहसील के ग्राम-सेवा-मंडल ने २५० रु. का प्रारम्भिक चन्दा दिया और वर्धा की ज़िला-कौन्सिल ने दवाखाने के लिए येलीकेली की धर्मशाला दी। इस प्रकार १ अगस्त १९३६ से वहां पहिला उपचार-केन्द्र खोला गया। प्रान्तीय धारासभा के सदस्य वर्धा के डॉ० महोदय, एम्० बी०, बी०, एस्०, ने स्वयम् काम करना स्वीकार किया।

थोडे ही दिनों में मरीजों की संख्या बहुत बढ़ गयी। दूर-दूर से मरीज़ आने लगे। सरकार ने भी हमारे केन्द्र को मान्यता और चंदा दिया। इस तरह सरकार और जनता ने इस कार्य की उपयोगिता और आवश्यकता पर अपनी स्वीकृति की मुहर लगायी। निरीक्षण और प्रचार का काम जारी ही था। मंडल की ओर से "महारोग और उसका प्रतिबन्ध," नामक पुस्तिका भी छापी गयी।

येलीकेली का काम देखकर वायगांव के लोग भी कहने लगे कि यहां भी एक सेवा-केन्द्र खोलो, जगह और इमारत हम बनवा देते हैं। वर्धा तहसील का दक्षिणी हिस्सा और हिंगनघाट ताल्लुके के लिए एक केन्द्र की ज़रूरत तो थी ही। इसलिए रामनवमी के शुभ मुहूर्त पर वहां भी एक केन्द्र खोल दिया गया।

उक्त दो केन्द्रों में जो काम हो रहा है उसका कुछ ख्याल नीचे के अंकों से होगा:—

	येलीकेली		वायगांव	
	१९३६	१९३७	१९३८	१९३८
	अगस्त से दिसंबर,	जन० से दिसं०,	जन० से अक्तू०,	अप्रैल से अक्तू०,
रोगी भरती हुए—	१५७	४०४	३२६	२२७
कुल हाज़िरी—	९१८	३९९३	३७९५	२०९३
उपचार-दिन—	२१	५२	४३	३०
औसत साप्ताहिक हाज़िरी	४३.७	७६.७	८८	६.८
उपचार-दिन की अधिक से अधिक हाज़िरी		१२०	१३८	१०८

फिलहाल तो केवल उपचार-केन्द्रों द्वारा ही काम हो रहा है। धीरे-धीरे "रुग्णालय" और "कुष्ठ-निवास" (कोढीखाना) का आयोजन करने का भी मंडल का विचार है। मंडल ने दो तज्ज्ञ कम्पौंडर तो नियुक्त कर लिये हैं। लेकिन इस कार्य का विकास तो तभी होगा जब अपने आपको उसीमें खपा देने वाले डॉक्टर और वैद्य अपनी सेवायें देंगे।

इस तरह इस कार्य का श्रीगणेश हुआ है। सन्तों के और दुःखी तथा पीड़ितों के आशीर्वाद हैं। सज्जनों की सक्रिय सहायता भर चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राष्ट्रभाषा की सनातन चर्चा

[काका कालेलकर]

डॉ. धीरेन्द्र वर्मा शुद्ध हिन्दी के बडे जागरूक और दक्ष संरक्षक हैं। अुनकी स्वभाषा-निष्ठा सराहनीय है। अुसे देखकर अुनके प्रति मन में आदरभाव पैदा होता है। वे हिन्दी की स्वत्वरक्षा के लिअे चाहे जो मूल्य देने के लिअे तैयार हैं। अुनका कहना है कि हिन्दी को अगर राष्ट्रभाषा बनना ही है तो वह अपने आन्तरिक गुणों से और अैतिहासिक महत्त्व से अपनेआप अुस पद को प्राप्त करेगी। अुसे किसी की कृपा या अुपकार की आवश्यकता नहीं है। हिन्दी चाहे राष्ट्रभाषा बने या न बने किन्तु अुस पद की लालच से अुसके स्वाभाविक रूप को बिगाड़ना कदापि अुचित नहीं होगा। डॉ. धीरेन्द्र वर्मा की यह भूमिका विचारणीय अवश्य है। यह बात समझ में आती है कि जो लोग हिन्दीभाषी नहीं हैं अुनको कोअी अधिकार नहीं है कि वे हिन्दी को हुक्म दें कि तू यही रूप धारण कर और वह न कर। अुसके स्वरूप का निर्णय तो वे ही कर सकेंगे जिनकी वह जन्म-भाषा या मातृभाषा है। वे ही अुसमें आवश्यक परिवर्तन कर सकेंगे। अगर कोअी हितचिंतक मित्र किसी के घर पर मेहमान जावे और पहुने का नाता छोड़कर यजमान के घर पर ही कबजा करने लगे और जहांतहां अपनी ही चलाने लगे तो कोअी कैसे सह सकता है?

बात बिलकुल सही है। और अिसीलिअे हम अहिन्दी-भाषी अपनी मर्यादा को समझ कर हिन्दीभाषियों से केवल अभ्यर्थना और अनुनय ही करते आये हैं। हमारा विनय करने का और गिड़गिड़ाने का अधिकार तो मैं समझता हूं, कोअी छीन नहीं सकता। हम अनुनय भी अिसलिअे करते हैं कि हिन्दी के लिअे बहुत अंश में हम कोअी पराये आदमी नहीं हैं। अंग्रेजी, फारसी, अरबी, जापानी आदि भाषायें बाहर की हैं। अुन पर हम आत्मीयता का, नातेदारी का अथवा सेवा का भी दावा नहीं कर सकते। लेकिन भारत की तो सभी भाषायें सहोदरा नहीं तो कम से कम अेक वंश की तो हैं। प्राचीन राष्ट्रभाषा संस्कृत की ये सब शाखायें हैं। अथवा रूपक बदलकर कहें, तो वे अुस पवित्र सुरसरिता की अनेक अुपनदियां हैं। संस्कृत के मूल स्रोत से ही बंगला, हिन्दी, मराठी, सिंधी, गुजराती, कानडी, मल्यालम् और तेलगू आदि सभी भाषाओं को अखंड जीवन मिलता रहा है। तामिल के प्रवाह में भी संस्कृत की धारा का जल काफी पाया जाता है। सम्भव है कि आधुनिक बगला और मल्यालम् में संस्कृत का हिस्सा सबसे अधिक हो। हम सब हिन्दी की सेवा करेंगे और अुससे लाभ भी अुठायेंगे।

× × ×

हिन्दी भाषा भी संस्कृत-कुल की है। आज तक अुसे राजाश्रय और लोकाश्रय कुछ कम नहीं मिला है। भारत की प्रधान भाषाओं में अुसका पद कुछ कम अूंचा या कम गौरव का नहीं है। अगर अुसके औरस पुत्र अथवा भक्त अुसकी सेवा अनन्य निष्ठा से करें तो अुसकी प्रतिष्ठा बिना बढे नहीं रहेगी। केवल अपनी भाषा पर गर्व करने से या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अुसके प्रति अभिमान रखने से अुसकी अिज्जत थोडे ही बढ़नेवाली है। भाषा की प्रतिष्ठा तो अुसकी ठोस सेवा करने से और अुसका प्रचलन बढाने से ही बढ़ती है।

हिन्दीभाषियों की संख्या बढ़ाने के प्रयत्न से भी यह अधिक आवश्यक है कि वह जिन की स्वभाषा या जन्मभाषा है अुनके सामाजिक तथा राष्ट्रीय जीवन में हिन्दी की प्रतिष्ठा और व्यवहार बढ़ाने की चेष्टा हो। अगर हिन्दी के स्पेलिंग का (शुद्धलेखन या हिज्जे का) कोअी ठिकाना ही न हो, अुसके वाक्प्रचार या मुहावरों की स्थिरता न हो, अुसकी बोलियों और प्रान्तीय शैलियों में अेक दूसरे के प्रति कोअी आकर्षण न हो, हिन्दीभाषियों का सामाजिक जीवन अगर संगठित न हो, वे पंजाबी, राजस्थानी, बुन्देली, भोजपुरी, अवधी, बिहारी आदि भेदों का केवल अध्ययन करने से संतोष न मान कर अगर अुनका प्रचलन बढ़ाने की कोशिश करने लग जावें, तो हिन्दी की योग्यता और शक्ति बढ़नेवाली नहीं है।

× × ×

राजनैतिक कारणों के लिअे और आधुनिक ज्ञानप्राप्ति की गर्ज से अंग्रेजी तो हम सब-लोगों को सीखनी ही पड़ती है। देश-हित के लिअे यदि कोअी विदेशी भाषा सीखना जरूरी हो जाय तो देशी लोगों की आवश्यक संख्या को अुतना पुरुषार्थ करना ही चाहिअे। किन्तु अगर हम अुसका अध्ययन सार्वत्रिक करें और अपने घरेलू और सामाजिक व्यवहार में बडे अुत्साह से अुसको बर्तने लगें तो हम मातृद्रोही और राष्ट्रद्रोही साबित होंगे। यह द्रोह भारत के अन्य सब लोगों के साथ हिन्दीवाले भी कर रहे हैं। भारतीय भाषाओं के लिअे सबसे डरावना खतरा यही है। अुससे कोअी बच नहीं पाया है अिसीलिअे लोगों को अुसकी भयानकता का पूरा पूरा खयाल नहीं है। आवश्यकता सिद्ध होने पर किसी विदेशी भाषा के शद्ब या मुहावरे अपनी भाषा में दाखिल कर लेना अेक बात है और अपनी भाषा के प्रचलन को ही रोक कर असकी जगह विदेशी भाषा को चलाना बिलकुल दूसरी बात है। हमारी संस्थाओं के नाम अंग्रेजी, अुनकी कार्यवाही की भाषा अंग्रेजी, अुनके विधान और नियमावली की भाषा अंग्रेजी, शिक्षा का वाहन अंग्रेजी, और सबसे भयानक बात तो यह है कि हमारे वृत्तविवेचन की भाषा भी अधिकांश अंग्रेजी। हमारे न्यायालय और राजदरबार के विषय में तो कहना ही क्या है! जबतक हम अिस भीषण परिस्थिति को दूर नहीं कर सकते तब तक हम किस मुंह से कहें कि हम अपनी मातृभाषा के भक्त हैं?

× × ×

यह जो संकट हमारे सिरपर लटक रहा है, अथवा जो हमने अपनी गफलत या भक्ति की कमी के कारण अपने अूपर खींच लिया है अुसके निवारण के लिअे सारी भारतीय भाषाओं के अेक विराट संगठन और सम्मिलित प्रयत्न की आवश्यकता है। केवल अेक सर्वसामान्य संस्था स्थापित करने से यह सिद्ध नहीं होगा। अुसके लिअे तो हार्दिक सहयोग और प्रचंड पुरुषार्थ की आवश्यकता है। अगर अितिहास देखा जाय तो पता चलेगा कि हम सब अेक बडे और श्रेष्ठ देश के हीन और ओछे निवासी हैं। अेक व्यापक और सार्वभौम संस्कृति के संकुचित प्रतिनिधि हैं। अिसलिअे हमें बगैर अपने ढाअी चावल की खिचडी अलग पकाये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चैन नहीं पडती। हमारे पुरखा अविभक्त कुटुम्ब-पद्धति के अभिमानी थे । वे जानते थे कि कुटुंब जितना बडा हो अुतनी ही अुसमें आध्यात्मिकता अधिक होती है । हमारा प्राचीन संयुक्त परिवार कोअी धूर्तों का स्वार्थमूलक संगठन नहीं था। अुसमें भेद में से भी अभेद का विकास करने की शक्ति थी। बलिदान से, और आत्मसमर्पण से, समर्थ और चिरजीवी बनने की कला में हमारे पूर्वज निपुण थे। आज-कल हम लोगों ने अिस विशाल परिवार के टुकडे टुकडे कर अपने अपने अलग अलग कबूतर-खाने बनाने की परिपाटी अधिक पसंद की है। बाडे में बन्द पशुओं के समान अेक ही अहाते में रह कर सदा आपस में लड़ते रहने की अपेक्षा अलग अलग घरोंदे बनाकर रहना बुरा नहीं है। किन्तु साथ रहकर 'संगच्छध्वं, संवदध्वम्' के आदेश को प्रत्यक्ष जीवन में परिणत करना क्या हमारे लिअे हमेशा ही अशक्य रहेगा ?

× × ×

अंग्रेजों ने अंग्रेजी को शुरू शुरू में केवल राजभाषा का सिंहासन दिया। शिक्षा-प्रबन्ध में अुनका प्रयत्न संस्कृत और अरबी को हटाकर अुनके स्थान पर भिन्न भिन्न देशी भाषाओं को स्थापित करने का था। कुछ अिनेगिने अंग्रजों ने अंग्रेजीको भारत की राष्ट्रभाषा बनाना भी चाहा, किन्तु अुनकी हिम्मत न हुअी । वह तो हम ही लोगों का काम था कि जिन्होंने सदियों से लोकभाषाओं का अनादर करके संस्कृत, अरबी और फारसी की प्रतिष्ठा बढ़ायी थी। हमने राजभक्ति के साथ राजभाषा-भक्ति को अपना कर अंग्रेजों से हठ की कि हमें तो आप अंग्रेजी की ही तालीम दीजिये। अुन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भ के भारतवर्ष का अितिहास देखने से अिस कथन की सत्यता प्रतीत होगी। लोकमान्य तिलक को प्रेरणा देनेवाले और राष्ट्र-सेवा के क्षेत्र में आकर्षित करनेवाले विष्णुशास्त्री चिपळूणकर अंग्रेजी भाषा को 'शेरनी का दूध' (वाघिणीचें दूध) कहा करते थे । अपना निजी पत्रव्यवहार भी अंग्रेजी में करते उन्हें कोअी संकोच नहीं होता था। जो अपने आपको मराठी भाषा के शिवाजी कहलाते थे अुनका तक यह हाल था। बंगला की अखंड और अुज्ज्वल सेवा करनेवाले रविबाबू और रामानन्द बाबू स्वीकार करते हैं कि राष्ट्रभाषा का पद तो किसी स्वदेशी भाषा को ही मिल सकता है। देशी भाषाओं में हिन्दी का महत्त्व भी अुन्हें मंजूर है। अपने प्रान्तिक व्यवहार में अंग्रेजी के स्थानपर बंगला को अधिष्ठित करने में उन्होंनें दूसरों की अपेक्षा किसी कदर कम कोशिश नहीं की है। परतु निखिल भारतीय व्यवहार में अंग्रेजी से ही काम लेने का मोह वे भी नहीं छोड सकते।

अंग्रेजी को राष्ट्रभाषा बनाने का प्रस्ताव कभी किसीने अुपस्थित नहीं किया। किन्तु अंग्रेजी पढेलिखे हम सबने व्यवहारतः अंग्रेजी को राष्ट्रभाषा बनाने की कोशिश में कुछ अुठा नहीं रक्खा। अिसमें हमने अंग्रेजों को भी मात कर दिया। यहां तक कि गांधीजी जैसे राष्ट्रभाषाभिमानी को भी अपना सन्देशा 'यंगइन्डिया' और 'हरिजन' अैसे अंग्रेजी अखबारों द्वारा ही सुनाना पड रहा है। हिन्दीभाषी अगर अुनके 'हिन्दी नवजीवन' और 'हरिजन सेवक' की कद्र करते तो देश की हालत बहुत कुछ सुधर जाती। अंग्रेजी को पदभ्रष्ट करने के लिअे देश में जो अत्यल्प लेकिन दृढ प्रयत्न हो रहा है उसमें हिन्दीभाषियों का हिस्सा सबसे अधिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होना चाहिअे था। परन्तु खेद का विषय है कि अुनकी राष्ट्रीयता आजतक कुछ कुनकुनीसी रही। गुजरात ने 'नवजीवन' से जो लाभ उठाया वह हिन्दीवालों ने अगर अुसके हिन्दी संस्करण से अुठाया होता तो हिन्दी में राष्ट्रीय लेखकों का और राष्ट्रीय भावों के प्रचारकों का अेक बहुत बडा दल पैदा हो जाता और देश की नयी संस्कृति की धारा अकुंठित गति से प्रवाहित होने लगती। हमारे अिस कथन के जबाब में हिन्दीभाषियों ने आज तक जो जो किया है अुसका ब्यौरेवार तख्ता रख देने से लाभ नहीं होगा। हमारे कथन का प्रतिवाद तो तभी होगा जब हिन्दीभाषी हिन्दी की प्रतिष्ठा बढ़ाने की कोशिश निष्ठा, स्वार्थत्याग और लगन से करेंगे।

× × ×

मराठी, गुजराती, बंगला, हिन्दी और अुर्दू वालों से मैंने काफी चर्चा की है। मिशिनरियों से भी राष्ट्रभाषा की दृष्टि से बात की है। मद्रास अिलाके के चारों प्रान्तों में दो तीन दफा घूमकर अुनकी नब्ज भी देख ली है। हरअेक वर्ग और विभाग की परिस्थिति का मुझे कुछ ख्याल आ गया है। अुसपर से अेक बात जो मेरे ध्यान में आयी अुसका जिक्र यहां कर देना आवश्यक है। सब तरफ जहां जहां प्रान्तवाद और संकीर्णता नज़र आती है अुसकी जड़ में अदूरदृष्टि और क्षुद्र स्वार्थ तो है ही; किन्तु अुनकी अपेक्षा आलस्य और अकर्मण्यता ही अधिक है। पेट भरने के लिअे मजबूरन डिग्रियां हासिल करनी ही पड़ती हैं। डिग्रियों के लिअे अिम्तिहान पास करने पड़ते हैं, और अिम्तिहानों के लिअे दो अेक भाषायें भी किसी तरह सीखनी ही पड़ती हैं। अुतनी भाषायें सीखकर हम कृतकृत्य हो जाते हैं। अधिक सीखने का कष्ट कौन अुठाये? राष्ट्रभाषा में सर्व-परिचित अंग्रेजी शब्दों की संख्या बढ़ाने में न किसी बंगाली को कोअी आपत्ति है और न किसी मुसलमान को कोअी अेतराज है। अिनकी बात जाने दीजिये। खुद हिन्दी-भाषी भी अपनी भाषा में अंग्रेजी शब्द बढ़ाने के मोह का संवरण नहीं कर सकते। अिसका मतलब यह नहीं है कि वे अंग्रेजी के पक्षपाती हैं। अुन्होंने अंग्रेजी पर मिहनत की है अिसलिअे अुनकी ज़बान पर अंग्रेजी शब्द आसानी से आ जाते हैं, और सुनने वालों को वे अटपटे नहीं लगते। अिस तरह अंग्रेजी शब्दों की संख्या हमारी भाषा में बढ़ती जाती है।

जो लोग अिस्लामी संस्कृति के बडे अभिमानी दीख पड़ते हैं अुनकी भी यही हालत है। अुर्दू में अंग्रेजी शब्दों की भरमार कुछ कम नहीं है। जहां देशी शब्द याद नहीं आया अंग्रेजी शब्द रख दिया और आगे चले। अगर राष्ट्रभाषा में अंग्रेजी शब्द बढ़ जायँ तो अंग्रेजी जाननेवाले लोग कोअी आपत्ति नहीं करेंगे। वे तो अुसमें खतरे के बजाय सुविधा ही देखते हैं।

अुर्दू से आसान और घरेलू शब्दों को भी हटाकर अुनकी जगह अरबी और फारसी के क्लिष्ट शब्द भर देने की मुसलमानों की सर्व-साधारण प्रवृत्ति की तह में अिस्लामी संस्कृति का आग्रह और देशी संस्कृति का तिरस्कार हो; सो बात नहीं है। परन्तु अुनकी शिक्षा की खामी है। स्कूल और कॉलेज में अुन्होंने या तो अंग्रेजी पढी है या अरबी-फारसी। अुर्दू और दूसरी देशी भाषायें तो घर में और बाज़ार में जितनी सुन लीं अुतनी ही पर गुजारा करना पड़ता है। अिसलिअे जब वे प्रौढ भावों को या प्रगल्भ विचारों को और अुनकी सूक्ष्म छटाओं को प्रकट करना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहते हैं तो अुन्हें अंग्रेजी या अरबी-फारसी की शरण लेनी पडती है। हमारी प्रान्तीय भाषाओं की भी कम या बेशी यही दशा है। अुनमे से पुराने और मीठे घरेलू शब्द बडी तेजी से कम हो रहे हैं। और अुनकी जगह बोलचाल में अंग्रेजी के शब्द और साहित्य में अरबी-फारसी या संस्कृत शब्द ले रहे हैं। आखिर आदमी करे भी क्या? दिन रात जो भाषा पढ़नी पडी है अुसी के शब्द जीभ पर नाचेंगे!

किन्तु जब झगडा शुरू हो जाता है तो अेक दूसरे को शक की नज़र से देखने की आदत पड जाती है। लोग अपनी अपनी संस्कृति और तहजीब की हिफाज़त की बातें करने लगते हैं। हिन्दी और अुर्दू में अंग्रेजी शब्दों की आयात से संस्कृति या तहजीब को कोअी डर नहीं है। अगर आप जनाबे-सदर से मिस्टर प्रेसिडेन्ट कहें तो अिस्लाम सलामत है। लेकिन अगर अध्यक्षमहोदय कहें तो कौमी जबान में कुफ्र की बू आने लगती है। हिन्दू संस्कृति के कुछ अभिभावकों की दृष्टि में काका की जगह काकासाहब कहना ब्रह्महत्या के समान पातक है, क्योंकि वह अिस्लाम के आक्रमण का लक्षण समझा जाता है। लेकिन गोखलेजी को मिस्टर गोखले कहने में उन्हें कोअी खतरा नज़र नहीं आता।

× × ×

बंगाली लोग लिंगभेद हटाने का सवाल अुठा रहे हैं। अुसका भी कारण यही है कि नअी चीज़ सीखने की तकलीफ कौन अुठावे? अंग्रेजी पढेलिखे बंगाली जब रोमन लिपि का पक्ष लेते हैं तब अुसका मुख्य कारण भी परिश्रम की अरुचि ही होता है। मैंने देखा है कि जिन शब्दों से मुसलमान वाकिफ हैं अैसे शब्द अगर अुर्दू-फारसी के न हों तो भी अुनके लिअे अुन्हें कोअी अेतराज नहीं है। अुत्तर हिन्दुस्तान के हिन्दुओं की भाषा में जितने अुर्दू शब्द रूढ हो गये हैं अुनसे अुनका हिन्दूपन मलिन या खंडित नहीं होता। पंजाब के हिन्दुओं के लिअे तो अुर्दू लिपि कुछ अधिक नजदीक की है। क्योंकि बचपन से अुन्हें वही पढायी गयी है। संस्कृति का झगडा बाद को आता है। मुख्य और प्राथमिक चीज़ तो है परिश्रम की अरुचि।

× × ×

लिपि और अन्य कअी अैसे प्रश्न हैं जिनका अिस विषय से सम्बन्ध है। लेकिन अुनका विवेचन आगामी लेख में।

हम सब अेक ही **सेनापति** की सेना के सिपाही हैं। किसीकी वर्दी का रंग लाल, किसीका खाकी और किसीका नीला भले ही हो, लेकिन सबसे अच्छा सिपाही तो वही है जो सबसे बढिया सेवा करता हो। विजय के दिन क्या हमारा **सेनापति** हमसे हमारी वर्दी का रंग पूछेगा?

—हॉलकेन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देवों का काव्य

(काका कालेलकर)

—२—

कअी लोग पूछते हैं 'अिन सितारों को देखने से क्या लाभ होता है ?'

गायन सुनने से और कविता पढ़ने से हमें क्या मिलता है ? अगर कोअी अैसा सवाल पूछे तो अुसे जबाब क्या दिया जाय ? अिन पहलूदार और रंगीन पत्थरों को लोग क्यों अितने दाम देकर खरीदते हैं, और अन्हें देखकर अितने क्यों खुश होते हैं ? अैसा अगर कोअी पूछे तो अुसे भी हम क्या जबाब दें ? सचमुच हर सांझ को नये-नये ढंग से दर्शन देनेवाले ये तारे और ग्रह देवों का अेक अप्रतिम और चिरंतन काव्य ही हैं । अिन्हें देखने से हमें सात्विक आनन्द मिलता है, अपार शांति मिलती है, और जिनकी योग्यता है अुनको अिनमें से अद्भुत प्रेरणा भी मिलती है । अिनका अध्ययन करने से जीवनानंद के साथ जीवन की अेक फिलसुफी भी मिलती है । छह आस्तिक दर्शनों के साथ तारकादर्शन को हम सातवां दर्शन कह सकते हैं ।

तारकादर्शन से और अुनके अध्ययन से व्यावहारिक लाभ भी कुछ कम नहीं है। हम रात को जल या स्थल पर कहीं भी क्यों न हों, हम कहां हैं, किस दिशा में हमें जाना है और रात के कै बजे हैं यह बतानेवाली यह अेक बडी घडी है । फर्क अितना ही है कि बाकी की मामूली घड़ियां हम अपने जेब में रखते हैं, जब अिस सनातन घडी की जेब में ही हम सब को रहना पड़ता है । स्थलकाल—सूचक यह अजीब जेबघडी हमारे असंख्य पुरखाओं को अपने जब में रखती आयी है । और हमारे अनंत वंशजों को भी अपनी जेब में अुतनी ही आसानी से रखती रहेगी । पता नहीं अिस विराट घडी को कब किसने चालू किया और कब अिसे चाबी दे दी। लाखों, करोडों और अर्बों वर्षों का तो अिसके सामने हिसाब ही नहीं है । लाखों, करोडों और अर्बों मीलों का हिसाब तो अिसके प्राथमिक गणित में आता है । जब हमारे गांव के ज्योतिषी हमारी जन्मपत्री बना देते हैं तब वे अिस विराट घडी के अनंतकाल में हमारा जन्म ठीक ठीक कब हुआ अुसका क्षण टाँक देते हैं । विक्रम, शालिवाहन, अीसामसीह और युधिष्ठिर के जन्म से हम अपना-अपना कालारंभ गिनते हैं। किन्तु अिन शककर्ताओं का जन्मकाल किस कालारंभ से हम गिनें ? अनंतकाल में किसी विशिष्ट क्षणलव को हम किस तरह पहचानें ? अुसके लिअे तो आकाश के ग्रह नक्षत्रों—की स्थिति का ही साहारा लेना होगा ।

रातको फलाने वक्त कै बजे हैं यह देखने और समझने की जरूरत पांच किसम के आदमियों को रहती ही है । जब जेबघड़ियां नहीं थीं और संतरी भी घंटा नहीं बजाते थे तब लोग आकाश की ओर ताक कर ही समय का निश्चय करते थे । शाकुंतल में कण्वऋषि का शिष्य रात के कै बजे हैं देखने के लिअे आकाश की अिस घडी को ही पूछता है ।

रात को देर तक पढ़नेवाला और प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त के पहले ही अुठनेवाला विद्यार्थी ताराज्ञान को आवश्यक मानता है। सुबह अठकर अपने खेत पर जानेवाला

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसान भी तारों से ही समय पूछता है। ज्वार-भाटे को देखकर दरिया में जहाज लेजानेवाले नाविक का तो नक्षत्रविद्या के बिना अेक क्षण भी नहीं चलेगा। गरम मुल्कों में या धूपकाले में रात की ठंढी मुसाफरी करने वाले मुसाफिर को अिन तारों से ही दिशादर्शन और कालनिर्देश मिल सकता है। रात्रि के सहारे अपनी फौज का कूच करानेवाले सेनापति को अिन तारों की ही अगुआअी काम आती है। हमारी सब धार्मिक क्रियायें सूर्य, चंद्र, ग्रह, नक्षत्र, तारों के हिसाब से ही की जाती हैं। जब सूर्य—चंद्र के ग्रहण होते हैं; या आकाश में क्रोधी धूमकेतू दिखाअी देता है तब सबके सब लोग अुतने काल के लिये नक्षत्र-विद्या के कायल बन जाते हैं। अिस विद्या के लाभ अनंत हैं। और अिधर अिन सौ पचास बरसों में अिस विद्या का अितना विकास हो गया है कि सब बातों का ख्याल करने के बाद मुंह से अुद्गार निकलता है कि आज तक अनंतता हमारे लिअे अेक शब्द ही था। अुसका असली ख्याल ही हमें नहीं था। अब हम सचमुच समझ पाये हैं कि अनंतता का ख्याल करना कितना दुश्वार है।

सामान्य मनुष्य को सबसे पहले पृथ्वी की गति, दिवस रात्रि का स्वरूप अेवं पृथ्वी के और आकाश के अक्षांश-रेखांश का ख्याल, अितनी बातें जाननी चाहिये। और अुसके बाद ज्योतिष का कोअी भी ग्रंथ पढ़ने से पहले अथवा किसी की मदद लेने से पहले अपनी कुदरती जिज्ञासा के सहारे सुबह और शाम आकाश देखते जाना चाहिये। देखते देखते तारों के अुदय और अस्त की ओर सबसे प्रथम ध्यान जायेगा। यह भी बात ध्यान में आयेगी कि कअी तारे बहुत बडे होते हैं और कअी छोटे होते हैं। शुक्ल पक्ष की अगर पूर्व रात्र हो अथवा कृष्ण पक्ष की अुत्तर रात्र हो तो दीख पडेगा कि चांद हर रोज अिन तारों के बीच में अपना स्थान बदलता जाता है। हर रोज भाअी साहब अूगने में अड़तालीस मिनिट की देरी करते हैं। और हर रोज या तो क्षीण अथवा मोटे मोटे होते जाते हैं। किन्तु तारों में हर रोज अेक नक्षत्र आगे ही बढते जाते हैं। क्योंकि नक्षत्रों का क्रम पश्चिम से पूर्व की तरफ होता है।

कुछ दिन तक रोज रोज देखने से यह भी पता चलता है कि आज अूगनेवाला तारा कल अुसी स्थान पर करीब चार मिनिट पहले अूगता है और रोज के अपने हिसाब से पूरब से पश्चिम तक अपना रास्ता तय करता है।

नवसिखियों के लिअे दक्षिण की तरफ देखकर प्रारंभ करना अच्छा नहीं है। अुन्हें तो पहले पश्चिम की तरफ़ देखना चाहिये क्योंकि वहां के तारे जलदी डूब जाते हैं। पश्चिम को अपनी करने के बाद अुसको अपनी निगाह पूरब की ओर चलानी चाहिये। और वहां पर जितना जी चाहे तारों के अुदय देखने चाहिये।

अगर अुत्तर दिशा ठीक ठीक मिल जाय तो वहां पर अपने स्थान को कभी भी न छोडनेवाला सुनीति-कुमार ध्रुव दीख पडेगा। और अुसके आसपास घूमनेवाले कअी तारों के समूह दीख पड़ेंगे। आज कल शाम के समय अगर देखा जाय तो अंग्रेजी M (अेम) के जैसा किन्तु बहुत टेढा अेक तारा समूह अुसका ध्यान खींचेगा। और अगर सुबह चार पांच बजे अुठकर देखा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाय तो अुस M के पीछे पीछे आनेवाले सात तारे अेक पतंग और अुसकी दुम के समान दाहिनी ओर से अूपर अुठे हुअे दीख पडेंगे। दक्षिण की ओर अूपर देखने से तो अनेक कोहिनूरो की गोलकोंडा खदान दीख पडेगी। यहां पर भी हमारी कल्पना अनेक आकृतियाँ बना सकती है। किसीसे पूछे बिना अपनी कल्पना को दौडने देना चाहिये। वेदकाल के ऋषि, अीजिप्त और अॅबिसीनिया के हबशी, खाल्डिया के ज्योतिषी और चीन देश के मंडारिन जब आकाश की ओर देखते थे तब अुन्हें सिखानेवाला कौन था? आश्चर्यचकित होकर अुन्होंने देखा, देखकर कुछ कल्पनाअें चलाअीं और हलके हलके नक्षत्रविद्या खिलने लगी। हमें भी अुन्हीं ऋषियों का और अरब मुसाफिरों का अनुकरण करना चाहिये। और जब अपनी निजी नक्षत्रविद्या का ठीक ठीक प्रारंभ होगा तब जाकर औरों से मदद लेनी चाहिये। पाठकगण अपनी जिज्ञासा को जाग्रत करके रोज सुबह और शाम, रात के आठ बजे और भोर पांच बजे, केवल दस दस ही मिनिट देंगे तो अुनको बहुत बड़ा रत्नलाभ होगा। थोडा समय और थोडा ध्यान दिया जाय तो और कुछ देना नहीं पडेगा। बाकी का सब मुफ्त ही मिलेगा।

वरदान

(श्रीमन्नारायण अग्रवाल)

देना यही वरदान, प्रभु, हो
सूर्य सा सद्ज्ञान मेरा!

नष्ट कर दुख का सघन तम
प्रेम किरणों की विभा से,
जन्म भर निःस्वार्थ सेवा
ही करूं निर्भीकता से।

असत–रजनी के तिमिर को,
सत्य–आलोकित करूं मैं;
कर निजी कर्तव्य पूरा
शान्ति से फिर, प्रभु, मरूं मैं।

हो अगर निर्मल, अहिंसक,
प्रेममय निःस्वार्थ जीवन
सूर्यास्त सा सुन्दर, विभायुत
हो न क्यों अवसान मेरा!

देना यही वरदान, प्रभु, हो
सूर्य सा सद्ज्ञान मेरा!

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्वोदय की दृष्टि

गीताजयन्ति

पितामह हिमालय, भारतमाता जान्हवी और सारे तीर्थों का सम्मेलन सरित्पति सागर, अिन तीनों की भव्यता और प्रसाद हम भगवद्गीता में पाते हैं। मनुष्य–जीवन की साधना विश्वरूप-दर्शन–योग में है। यही सर्वोच्च धर्म है। यही सनातन साधना है। अिसीके साक्षात्कार के लिअे भगवद्गीता का आविर्भाव हुआ है। फलफूलों के लिअे ही जैसे वृक्ष की समृद्धि होती है, अुसी तरह से भगवद्गीता का संदेशा देने के लिअे ही महाभारत का विस्तार हुआ है। मनुष्यजाति के प्रतिनिधि अर्जुन ने अपनी कमजोरी, अपना कार्पण्य, और अपना विषाद, पूर्णपुरुष पुरुषोत्तम के चरणों पर धर दिया। अपनी कमजोरी ही अेक मात्र अैसी चीज है जिसे मनुष्य अपनी कह कर भगवान के चरणों में अर्पण कर सकता है। शुद्धभाव से नैवेद्य अर्पण करने से नैवेद्य का ही रूपान्तर प्रसाद में हो जाता है। अर्जुनविषाद का भी रूपान्तर होकर भगवत्प्रसाद के रूप में मनुष्यजाति को भगवद्गीता मिली है।

भगवद्गीता शुरू से लेकर अन्त तक अेक अखंड सहानुभूति–योग है। यहां पर परमात्मा नरपति, जगत्पति, या जगत् के सम्राट की भाषा नहीं बोलता, किन्तु जगत्पिता के कारुण्य से आश्वासन देता है।

दुन्यवी आश्वासन दुखियों को दिलासा देता है परन्तु दृष्टि नहीं देता। भगवद्गीता मनुष्य-जाति का सार्वभौम दर्शन है। उसे पाने के बाद मनुष्य को फिर किसी भी किस्म का मोह होने की सम्भावना ही नहीं रह जाती

किन्तु गीता के केवल पठन-मनन से अुसका ज्ञान हम आत्मसात नहीं कर सकते। गीता हमें जीवनदृष्टि देती है। अुस दृष्टि को जीवन का सारथी बना कर जब हम अपनी साधना बढाते जायेंगे तब गीता–ज्ञान ही हमारी जीवननिष्ठा बन जायगी। अिसलिअे केवल गीता के अध्ययन में मग्न न रहकर हरअेक गीतापारायण के बाद जीवन–संग्राम में अुसका अनुशीलन करते रहना चाहिअे।

सालभर के अैसे अनुष्ठान के बाद अपनी जीवन–निष्ठा को फिरसे टटोलने के लिअे, जीवन के अूपर जमी हुअी राख को झाडने के लिअे, गीता–जयन्ति की तिथि आती है।

'मासानां मार्गशीर्षोऽहं' कहकर गीता ने ही हमें अपना महीना पसंद करा दिया है। अिसी महीने में आनेवाली, विश्वव्यापक ब्रह्म-लोक में लेजानेवाली मोक्षदा अेकादशी अिस ब्रह्मविद्या की और योगशास्त्र की जयन्ति के रूप में मनायी जाती है। ता० ३ दिसंबर को अिस साल गीताजयन्ति है। मार्गशीर्ष शुक्ल मोक्षदा अेकादशी को गीता–जयन्ति मनायी जाती है।

जयन्ति मनाने की सबसे अच्छी विधि कौनसी हो सकती है ?

जिन लोगों को अपनी दैनिक वासरी (डायरी) लिखने की आदत है और जो लोग अुसमें केवल व्यवहार की घटनायें ही नहीं लिखते किन्तु अपने मन, हृदय और आत्मा की बातें अंकित करते हैं, वे तो अुस दिन प्रातःकाल अुठते ही एक साल के आध्यात्मिक आयव्यय का हिसाब लगा लेंगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिनके पास अैसा आत्मनेपदी दस्तावेज नहीं है अुनको चाहिअे कि वे अेकान्त में शान्ति से बैठकर सालभर की बातें याद करें और हो सके तो लिख डालें। जीवन के मानी ही हैं हृदय का विकास, ज्ञान का विस्तार और कौशल्य की परिसीमा। अिन तीनों बातों में अगर हमारी अुत्कटता बढी है तो हम आगे बढे हैं; नहीं तो हमारा व्यापार व्यर्थ गया है। जीवन में पार्थिव वस्तुओं की लाभ–हानि दैवाधीन है। और हमारा असली सुखदुःख और लाभहानि अुनके अधीन नहीं है। हमने कितने हृदयों में प्रवेश पाया, हम कितनी व्यक्तियों के साथ आत्मैक्य या अभेद स्थापित कर सके, यही खास देखने की बात है। किन्तु यह भी कुछ हद तक दैवाधीन ही है। असली देखने की बात तो हृदयशुद्धि और हृदयसमृद्धि ही है। शुद्धि और समृद्धि अेक दूसरे की केवल पूरक ही नहीं किन्तु अन्योन्य की कसौटी भी हैं।

दिवस के प्रारम्भ में ही अन्तर्मुख होकर स्मरण के दर्पण में अपना सालभर का जीवन देखने के बाद नहाधोकर गीतापाठ करना चाहिअे। हल चलाने के बाद ही जैसे भूमि बीज–ग्रहण कर सकती है, अुसी तरह से आत्मनिरीक्षण और अन्तर्मुख परीक्षण के बाद ही गीताबोध हृदय में जड़ पकड़ सकता है।

गीता के श्लोकों की अैसी कुछ खूबी है कि भिन्न भिन्न समयपर भिन्न भिन्न श्लोक सर्वोपरि बनकर हृदय में प्रवेश करते हैं। मनुष्य, दानव और देवों को प्रजापति ने अेक ही आदेश दिया—'द'। विलासी देवों ने अन्तर्मुख होकर बोध ग्रहण किया कि 'द' से दमन का मतलब है। अिन्द्रिय–दमन और आत्मसंयम करना यही प्रधान धर्म है। निर्दय दानवों ने अन्तर्मुख होकर बोध ग्रहण किया कि 'दया' ही सर्व श्रेष्ठ कर्तव्य है। लोभी और कृपण मनुष्यों ने अन्तर्मुख होकर उसी 'द' अक्षर से बोध ग्रहण किया कि 'दान' से ही जीवन कृतार्थ होता है। 'संविभागश्च सर्वशः' यही जीवन-धर्म है। जो कुछ संपत्ति है अुसका सभीके साथ बांट कर ही अुपभोग करना चाहिअे। ठीक अिसी तरह से जैसी व्यक्ति और जैसा प्रसंग हो वैसा ही बोध गीता से मिलता है। गीता में जीवन के सब पहलुओं का विचार है। अेक अेक कर के हर अेक पहलू मनुष्य के सामने प्रधान बनके आता है और जीवन को परिपूर्ण बनाता है। अिस लिअे गीता को पूर्णयोग कहा है। किसी भी चीज़ में जब चित्त आसक्त हो जाता है तब जीवन अेकांगी, विकलांग और पामर बन जाता है। जब सब बातों से चित्त अनासक्त होता है, कर्तव्य की भूमि पर आरूढ हो जाता है, तब अुसमें सब विभूतियां प्रगट हो जाती हैं, सब सिद्धियां सेवा में अुपस्थित हो जाती हैं और आत्मैक्य का अनुभव होकर मनुष्य शान्ति की सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है।

हरसाल की गीता जयन्ति के दिन हम जीवन यात्रा की कुछ न कुछ मंजिल तय करें।

* * * *

भगवद्गीता केवल अेक तत्त्वबोधक शास्त्रीय ग्रन्थ ही नहीं है, वह अेक अुच्च कोटि की कलाकृति भी है। यह दिव्य गीत अुस वक्त गाया गया जब धनुष्यों की टणत्कार और रणवाद्यों की गंभीर ध्वनि से सारी समरभूमि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुलकित हो रही थी। रणक्षेत्र की प्रक्षुब्ध परिस्थिति में भी अपने चित्त की स्थिरता और बुद्धि की विचार-शक्ति कायम रखने की योग्यता जिस अलौकिक दार्शनिक और कलाकार में थी वही अर्जुन के घोडों को संभालते हुअे मौलिक तत्त्वज्ञान और आश्वासन से परिपूर्ण अैसा अनुपम संगीत गा सकता था। गीता का अुपदेश किसी पर्वत की अंधेरी गुफा में या गुरु की कुटिया के अेकान्त में दिया हुआ नहीं है। वह रण-भूमि पर किया हुआ तत्त्वबोध है। अिसीमें अुसकी विशेषता है। लेकिन अुसकी अपूर्वता तो अिसमें है कि अुसे कोअी समर-गीतों में शमार नहीं करता। वह हिन्दूधर्म का बेजोड़ धर्मग्रन्थ माना जाता है। भगवद्गीता आत्मज्ञान और नीति का अेक अनूठा ग्रन्थ समझा जाता है। गीताकार ने समरांगण में बन्धुत्व के सिद्धान्त का, निर्वैर की वृत्ति का, अपने और पराये के भेद को भूल जाने का, प्राणीमात्र के साथ अपनी आत्मीयता का सम्बन्ध प्रस्थापित करने का अुपदेश अेक युयुत्सु को दिया।

* * *

यदा यदाहि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य. तदात्मानं सृजाम्यहम्।

क्या आज से बढ़कर अधर्म का अभ्युत्थान पहले कभी हुआ था? क्या धर्म की ग्लानि अिससे अधिक कभी हुई थी? आज बडे से बडे राष्ट्र निरी पाशवी शक्ति की आराधना में मग्न हैं। जो लोग युद्ध से बचना चाहते हैं वे भी बच नहीं सकते। पानी की धारा तेजी से बहती हुअी जल-प्रपात के रूप में कगार से नीचे गिरती है और शतधा विदीर्ण हो जाती है। अिस प्रवाह में लकडी, बर्तन, पशु या आदमी जो कोई गिर जाता है, पहले पहले समझता है कि मैं तो किनारे लग ही जाऊंगा। जब तक मझधार में नहीं पहुँचा तब तक तो कुशल है। लेकिन जैसे जैसे वह मझ-धार के पास पहुँचता है, पानी का वेग पाप की नाअीं बढ़ता जाता है, और फिर जान बचाने की कोअी आशा नहीं रह जाती। दुनिया के प्रधान राष्ट्रों का आज यही हाल हो रहा है। संभावित के लिअे मृत्यु से भी बदतर अैसी अपकीर्ति को चुपचाप स्वीकार करके भी इंग्लैंड युद्ध से बचना चाहता है। किन्तु विश्वघटना का प्रवाह अुसे खींच ही रहा है। जहां देखिये, युद्ध की तैयारियां हो रही हैं। सभी राष्ट्र आंखें खुली रखकर दिन दहाडे विनाश की ओर दौड़ रहे हैं। "लोकक्षयकृत्" काल की कराल दंष्ट्रा में सबके सब घुस रहे हैं।

"काय-क्लेश भयात्" या जान-माल की रक्षा के मोह से युद्ध को टालने की इस कोशिश से अर्जुन का "विषाद-योग" कहीं अधिक अुदात्त था। अैसे अवसर पर श्रीकृष्ण द्वारा गाया गया यह अमर और दिव्य समर-गीत, दर असल शान्ति-गीत है। अुसका पारायण और स्वाध्याय मुमुक्षुओं की साधना का अंग हो गया है। आज, जब कि, चारों ओर परस्परद्वेष ही जीवन को कलु-षित कर रहा है, "निर्वैरःसर्वभूतेषु' और "आत्मौपम्येन सर्वत्र" का त्रिकालाबाधित सन्देशा हमारी मनुष्यता की रक्षा और अुत्कर्ष का संजीवन-मन्त्र है। जीवन-मरण जितना गूढ़ है अुतना ही गूढ़ गीता का सन्देश भी है। जीवन-संग्राम में जीवित-साफल्य और जीवन-संसिद्धि पाने का मार्ग या योग, धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र पर गाये हुअे अिस आध्यात्मिक संगीत में ही मिलेगा।

का० का०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बम्बअी के गोली-प्रकरण का सबक

भगवान् ने भारतवर्ष को मानो अैसी आशीर्वादात्मक चेतावनी दे रक्खी है कि "जबतक तू विश्व के अुद्धार की साधना नहीं करेगा तेरा अुद्धार भी नहीं होने दूंगा।"

सदियों से भारत को बराबर ज़ालिमों की दमननीति का ही अनुभव होता रहा है। अिसलिअे जहां अुसे अेक ओर दमन के प्रति घृणा है, वहां दूसरी ओर अुसकी शक्ति में अेक तरह का विचित्र विश्वास भी है। दमननीति के सामने गर्दन झुकानेवाला गुलाम अुसका सबसे बड़ा पुजारी है। हमने आजतक दमन के सामने सिर झुकाकर अुसकी प्रतिष्ठा बढ़ायी है। सत्याग्रह-युद्ध में हमने दमन को चुपचाप सहने के बदले अुसका सामना किया और उसे निर्वीर्य ठहरा दिया। अब हमें दमन के सब पहलुओं का विचार करना चाहिअे।

अिस दृष्टि से, बम्बअी में ता० ७ नवम्बर १९३८ को मज़दूरों के तूफान को शान्त करने के लिअे गोली चलानी पडी यह कोअी साधारण बात नहीं कही जा सकती। अैसे तूफ़ानों के मौके पर जो बलप्रयोग किया जाता है अुसके दो अुद्देश हो सकते हैं। अेक, तात्कालिक संकट-निवारण; और दूसरा, तूफ़ान खड़ा करनेवालों की भली या बुरी वृत्ति का दमन। पहला उ ेश जायज़ है। हरअेक सरकार का वह पवित्र कर्तव्य है। किन्तु बलप्रयोग के द्वारा लोकशक्ति का दमन करने का प्रयत्न निःसन्देह हेय और अशुभ है। बम्बअी में जो गोली चलायी गयी वह हमारे विचार में अपरिहार्य थी। वह पहले अुद्देश को सामने रखकर चलायी गयी थी। अगर अुसी तरह का बेढंगा मौका फिर कभी आवे तो फिर वही करना पडेगा। आज की परिस्थिति में दूसरा चारा ही नहीं है। किन्तु अिस अुपचार को जितना अधिक काम में लाना पड़ेगा-फिर वह लाचारी से ही क्यों न हो-अुतनी ही काँग्रेस की अिज्ज़त निःसंशय घटती जायगी, यह भी हमें नहीं भूलना चाहिअे।

हम भारत की अेकराष्ट्रीयता के पक्ष में अनेक यथार्थ प्रमाण और दलीलें दे सकते हैं। लेकिन हमको यह नहीं भूलना चाहिअे कि हम अेक अैसा राष्ट्र हैं कि जिसका संगठन बहुत ही शिथिल और अपूर्ण है। हमें राष्ट्रीय स्वास्थ्य की रक्षा के लिअे असाधारण परहेज़ करने होंगे। दुनिया के दूसरे राष्ट्र द्वेष-ज्वर और हिंसावाद के सन्निपात से ग्रस्त तो हैं; किन्तु वे अपनी आन्तरिक बातों में संगठित और दूरदर्शी हैं। हमारे यहां अिन दोनों गुणों का पूरा पूरा अभाव है। समाज-हित के लिअे और राष्ट्र-संगठन के हेतु, जो संयम, सहनशीलता, न्यायबुद्धि और अुदात्तवृत्ति आवश्यक हैं, और जो दुनिया के अन्य संगठित राष्ट्रों में सहजसिद्ध हैं, अुनकी प्रतिष्ठा हमारे यहां बहुत ही कम है। अगर हम हिंसा का भी अुपयोग करने का अिरादा कर लें, तो प्राचीन काल के यादवों की तरह, या कौरव-पांडवों की तरह, सबसे पहले अुसका प्रयोग अेक दूसरे का गला काटने के लिअे करेंगे। हिंसा हमारे जैसे नादान लोगों के लिअे विश्वविजय का साधन बनने के बजाय आत्मघात का साधन बन जायगी। परस्पर अविश्वास, परस्पर द्वेष, मत्सर, अीर्ष्या, असूया आदि दोषों का अन्त करने का आत्मबलिदान और अहिंसक विधायक संगठन ही अक मात्र अिलाज है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनुष्य के स्वभाव में मृत्यु का डर अितना गहरा पैठ गया है कि जो कोअी जान देने पर अतारू हो जाता है, अपना खून बहाने के लिअे अुद्यत हो जाता है, अुसके लिअे लोगों के दिलों में अपनेआप सहानुभूति पैदा हो जाती है। अुसके पक्ष की न्याय्यता या अन्याय्यता का, अुच्चता का या हीनता का, अुसके अुद्देशों की शुद्धता या अश्लाघ्यता का कोअी विचार नहीं करता। वह अपनी जान पर खेल गया, या केवल संयोग से अुसकी जान गयी, अितनी बात लोगों का दयाभाव जाग्रत करने के लिअे काफी है।

जिनका दमन-नीति में विश्वास नहीं है, बल्कि अुसके लिअे अुत्कट तिरस्कार है, अुनको भी मजबूर होकर जब बल का अुपयोग करना पड़ता है, तब तो यह स्पष्ट ही है कि अभी हमारी अहिंसा की साधना बहुत ही अपूर्ण और अशुद्ध भी है। परन्तु अिसमें हमारी कमजोरी है न कि अहिंसक मार्ग की अव्यवहार्यता। अिसमें हार जरूर है, लेकिन वह अहिंसा के निर्बल अुपासकों की न कि अुस सिद्धान्त की या साधन की। वह तो कार्यक्षम ही नहीं, बल्कि अमोघ है।

अिधर कअी दिनों से गांधीजी शान्तिसेना के संगठन पर जो जोर दे रहे हैं अुसका यही तो कारण है। हमारी असफलता और कमजोरी हमें यह सिखाती है कि हम अपनी साधना अधिक सावधानी से और सचाअी से करें। शान्तिसेना का संगठन कोअी दूरवर्ती भविष्य में अमल में आनेवाले रामराज्य की दन्तकथा नहीं है। अुसके बिना काँग्रेस की हस्ती को ही खतरा है। जब तक अैसी सेना का संगठन नहीं होगा, सरकार बनते ही, काँग्रेस को भी जनता की जान और माल की हिफ़ाजत के लिअे पुलीस और फौज का अुपयोग करना पडेगा। लेकिन खाकी वर्दी, और संगीन तथा बन्दूकों से न डरने का पाठ तो जनता को हम ही ने पढ़ाया है न? हम ही तो अुनसे कहते थे कि जब अेक दिन मरना ही है तो अपने सिद्धान्त और स्वत्व की रक्षा के लिअे गोली खाकर मरने से क्यों डरें?

यह सच है कि निडरता के अुपदेश पर आसानी से वे ही अमल कर सकते हैं जिनके हृदय में सदाचार से अुत्पन्न निष्ठा हो। किन्तु विकार भी मनुष्य को नशा चढ़ा देता है, और अुसमें प्राणों की बाजी लगा देने की वृत्ति पैदा कर देता है। अिसीलिअे अत्याचारी भी कअी बार असाधारण निर्भयता बतलाते हैं। निर्भयता का अुपदेश अुनके कानों तक पहुँचना, या अुसका अुनके दिलों पर असर होना कोअी असंभव चीज तो है नहीं। अैसी दशा में अुद्दंड और अत्याचारियों को अपना खुद का खून बहाकर अपने व्यापार को रक्तपूत बनाने का मौका हम क्यों दें?

जबतक शान्तिसेना की स्थापना नहीं होगी और वह जनता की रक्षा का भार अपने अूपर न लेगी, तबतक आपद्धर्म के रूप में पुलीस और फौज की मदद लेनी पडेगी। चाहे आज मंत्रीपद पर हमारे आदमी भले ही हों, हम यह नहीं भूल सकते कि पुलीस और फौज की शक्ति ब्रिटिश सरकार की शक्ति है, न कि हमारी। जो शान्ति और सुरक्षितता पुलीस और फौज की बदौलत हमें नसीब होती है, वह अंग्रेजी सल्तनत की जड़ों को मजबूत करती है। पुलीस और फौज के आदमी देशी होने से अिस स्थिति में कोअी अन्तर नहीं पड़ता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जब तक हम शान्ति-सेना का संगठन नहीं करते तब तक लोगों में आत्मविश्वास भी पैदा नहीं करा सकते। जापान, जर्मनी या और किसी परंचक्री सेना का सामना अहिंसक मार्ग से करने की हिम्मत और शक्ति तभी पैदा होगी जब कि हम देश के अन्दर होनेवाली हिंसा का प्रतिकार अहिंसक अुपायों द्वारा सफलता से कर सकेंगे।

शान्तिसेना के संगठन की जिम्मेवारी जितनी काँग्रेस के पदाधिकारियों पर है अुतनी ही काँग्रेसी मन्त्रियों की भी है। जितनी नेताओं पर है अुतनी ही काँग्रेस के ध्येय और नीति पर सही करनेवाले हर अेक सदस्य की भी है।

२२-११-'३८ का० का०

राजरत्न प्रो० माणिकराव

बडौदा के राजरत्न और हिन्द के सेवा-वीर प्रो० माणिकराव का आज हीरक महोत्सव है। व्यायाम-विद्या की अुपासना, अस्थि-संधान-कला द्वारा मरीजों की सेवा, और स्वयंसेवकों की सेना के संगठन द्वारा मौके मौके पर समाज की सेवा, अिस त्रिवेणी ग्रथनपर प्रो० माणिकराव की विभूति निर्भर है। १९१० से मैं देखता आया हूँ कि प्रो० माणिकराव अनन्य निष्ठा से और अेकाग्र लगन से यही काम करते आये हैं।

प्रो० माणिकराव की व्यायाम-शाला का जुम्मादादा यह मुसलमानी नाम देखकर प्रथम मुझे अचम्भा हुआ। मैंने अुन्हींसे पूछा और अुन्हींके मुंह से अुनके गुरु श्री. जुम्मादादा के दृढव्रती जीवन का हाल मैंने सुना। जहाँ अुच्च चारित्र्य है, वहाँ जाति-भेद, धर्म-भेद और भाषा-भेद सब विलुप्त हो जाते हैं।

प्रो० माणिकराव ने प्राचीन मल्लविद्या का केवल रक्षण ही नहीं किया है बल्कि अुसे आधुनिक रूप देकर वर्तमान युग के अनुकूल बना दिया है। स्वामी विवेकानन्द और सर राधाकृष्णन् ने हिन्दू तत्त्वज्ञान का श्रेष्ठत्व सिद्ध किया। कविवर रवीन्द्र ने भारतीय संस्कृति की प्रतिष्ठा बढ़ायी। श्री. अुदयशंकर ने भारतीय नृत्य-कला के गौरव से दुनिया को परिचित कराया। गांधीजी ने हिन्दुस्तान जैसे पतित राष्ट्र का अुत्थान करा के विश्व के दरबार में अुसे स्थान दिलाया। अिन सब की अिस सफलता का कारण अुनकी भारतीय संस्कृति के प्रति गहरी श्रद्धा है। हमारे देश की संस्थाओं का और समाज-व्यवस्था का प्राण जब फिर से जाग्रत होगा तब, बाबू भगवानदास की दृष्टि से, हम पूरा लाभ अुठा सकेंगे। भारतीय व्यायाम-पद्धति के प्रति श्रद्धा और निष्ठा रख के अुसीकी अनन्य अुपासना करनेवाले व्यायाम-धुरंधर माणिकराव की सेवा अिसी कोटि की है।

"अिक साधे सब सधै" वाला सूत्र ध्यान में रखकर प्रो० माणिकराव ने अपना सारा जीवन व्यायाम-विद्या को ही अर्पण किया है, और अुसमें अद्वितीय प्रवीणता हासिल की है। परन्तु मेरे ख्याल से अुनकी श्रेष्ठता अिस अद्वितीयता में नहीं है। हजारों शिष्यों को तय्यार कर के अुन्होंने अपनी संस्था की जो शाखा-प्रशाखाअें देश को अर्पण की हैं अुसी में अुनकी महत्ता है। जो काम संगीत में पं० विष्णु दिगंबर ने किया, वही व्यायाम-विद्या के लिअे प्रो० माणिकराव अधिक दक्षता से कर रहे हैं। सर्वांगीण अुन्नति को माननेवाले माणिकरावजी ने अिस बात का प्रथम से ही आग्रह रक्खा है कि अुनके शिष्य विद्या-निपुण, सेवा-परायण और संस्कार-संपन्न भी हों। साहित्य-सेवा, विद्या की उपासना,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजकीय जाग्रति और समाज-सेवा आदि सब क्षेत्रों की माणिकरावजी ने हमेशा कद्र की है। संघ-व्यायाम के संगठन द्वारा अुन्होंने भारतीय व्यायाम की जो सेवा की है अुसका महत्त्व-मापन भविष्य में ही होगा। योगविद्या के अनुशीलन और प्रचार के लिअे विख्यात श्री कुवलयानन्द, भाअूसाहब माणिकराव के ही अेक शिष्य हैं, अितना कहने से माणिकराव के कार्य-विस्तार का खयाल आ जायगा।

व्यायाम-विद्या के प्रचार में भाअूसाहब स्त्री-जाति को भूले नहीं हैं यह अुनकी एक विशेषता है। सार्वजनिक सेवा का अुनका आदर्श बहुत ही अूंचा है। अुनकी कार्यक्षमता असाधारण है। नम्रता और निःस्पृहता के कारण अुनका व्यक्तित्व हमेशा खिल अुठता है। टूटी हुई हड्डियों को सांधने की कला में निष्णात होने के कारण दूर दूर के लोग अुनके पास आते हैं। जब १९२७ में गुजरात में बडी बाढ़ आयी थी तब माणिकरावजी ने और अुनकी सेवा-सेना ने लोगों की जान बचाने का जो असाधारण वीरकर्म किया अुससे तो अिस राष्ट्रपुरुष की पहचान गुजरात के घर घर में हुई है। स्वतंत्र भारत में अैसे नरवीर के लिअे कोई भी स्थान अत्युच्च नहीं गिना जायगा। हम अितनी ही आशा करते हैं कि अैसा अत्युच्च स्थान पाने तक परमात्मा अुन्हें दीर्घायु दें।

३०-११-३८ का० का०

गांधी = सत्याग्रह

श्री मगनभाई देसाई लिखते हैं:—

"बहुतसे लोग 'सत्याग्रह' शब्द से अेक किस्म का, और सो भी गांधीजी का बताया हुआ, लड़ाई का मार्ग – इतना ही समझते हैं। लेकिन सचमुच यदि देखें तो सत्याग्रह शब्द गांधीजी की सारी सिखावन और विचार-श्रेणी के लिअे अेक पूरा शब्द है। 'गांधीमत,' गांधीसिद्धान्त,' 'गांधीजी का अर्थशास्त्र' वगैरा शब्दप्रयोगों की जगह अगर 'सत्याग्रह-मत,' 'सत्याग्रहसिद्धांत,' 'सत्याग्रही अर्थशास्त्र' आदि कहें तो क्या ज्यादा अच्छा नहीं होगा? सत्य की दृष्टि से जो जो मार्ग या नीति दुरुस्त मालूम हो उसीका आचरण है सत्याग्रह। इससे हम गांधीजी के मत को 'सत्य मत' भी कह सकते हैं। लेकिन 'सत्य' का अर्थ भिन्न भिन्न किया जाता है। हरअेक अपनी अपनी समझ के अनुसार सत्यमत ही प्रकट करने का दावा कर सकता है। इसीलिअे तो हमें 'गांधी मत,' 'मार्क्स मत' वगैरा व्यक्ति वाचक प्रयोग करने पडते हैं। सत्य शब्द के बदले यदि हम 'सत्याग्रह' 'सत्याग्रही' वगैरा शब्द काम में लावें तो व्यक्तिवाचक प्रयोग की जरूरत भी नहीं रहती। इसलिअे, मुझे लगता है कि, 'सत्याग्रह' शब्द इस्तेमाल करना चाहिअे।"

श्री मगनभाई का यह कहना कि 'गांधी' के मानी सत्याग्रह ही हैं, ठीक है। यह बात कई बार बताई गई है कि सत्याग्रह के मानी सिर्फ लडाई का अेक तरीका ही नहीं है, लेकिन अेक फिलसुफी है। गांधी सेवा संघ के उद्देश में इस बडे अर्थ में ही 'सत्याग्रह' शब्द काम में लाया गया है। उसमें सत्याग्रह के सिद्धान्तों के अनुसार लोगों की सेवा करना, यह उद्देश बताया गया है और सेवा के कामों में सारा रचनात्मक कार्यक्रम शामिल किया गया है। मतलब यह कि, गांधी-मत और सत्याग्रहमत अेक ही बात है।

अब रही 'गांधी' शब्द को हटाने की बात। मेरी दृष्टि से उसे हटाने का आग्रह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रखने में भी दोष है। 'सत्याग्रह–सिद्धान्त' को 'गांधी सिद्धान्त' कहने से कोई असत्य तो नहीं होता। 'अद्वैतमत' को शांकरमत, 'विशिष्टाद्वैत' को 'रामानुजमत' या 'साम्यवाद' को 'मार्क्सिज़म्' कहने की रूढि को जिस तरह हम हटा नहीं सकते, और न हटाने की जरूरत भी है–उसी तरह इस को भी नहीं हटा सकते, और न हटाने की जरूरत ही है। अैसे नाम लोगों के रक्खे हुअे होते हैं, और बोलने की सहूलियत के लिअे बन जाते हैं। वे बाज बार ज्यादा स्पष्ट या कम उलझन में डालने वाले होते हैं। सत्याग्रह के बारे में लोगों के मन में शक पैदा हो सकता है। हाल ही में हरिजन-मंत्री नियुक्त कराने के लिअे सेगांव में जो स्वयंसेवक भेजे जाते थे, उसको भी तो वे लोग 'सत्याग्रह' ही कहते थे न? लेकिन गांधीजी की राय में वह सत्याग्रह नहीं था। मतलब, गांधीजी का सत्याग्रह भी तो गांधीजी के मत का ही हो सकता है। इसलिअे 'गांधीमत' कहने से थोडे में काम चल जाता है।

अैसी ही अेक चर्चा चल पडी थी 'वर्धा योजना' के विषय में। 'वर्धा–योजना' से उसके स्वरूप का ख़याल नहीं आता। इसलिअे कुछ लक्षण–दर्शक नाम से उसका परिचय कराना चाहिअे अैसी अेक सूचना थी। वैसे तो 'बुनयादी शिक्षा' यह नाम उसे दिया भी गया है। काका साहब की सूचना से मैंने 'वर्धा' की जगह 'सेगांव' नाम चलाने की कोशिश भी की। लेकिन दुनिया को वह मंजूर नहीं हुआ। लोगों ने उसे 'वर्धा योजना' नाम से ही पुकारना पसंद किया। जैसे, 'रौलॅट अॅक्ट,' 'बॉयकॉट,' 'ज़ाकिर हुसेन कमिटी' आदि कई चीजें इस तरह व्यक्ति के नाम से मशहूर हो जाती हैं। इसमें हमारी राय कोई पूछने की परवाह थोडे ही करता है? हमारे संपादक काका साहब और दादा साहब को दत्तोपन्त और शंकरराव नाम से कोई बुलानेवाला रहा ही नहीं, तब उन्हें अपने असली नामों को भी छोड देना पडा है, और शायद भविष्य में पुरातत्त्वशोधकों को उनके इन नामों का पता लगाने के लिअे समिति बिठानी पडेगी! लेकिन, इससे लोग थोडे ही उन्हें दत्तोपन्तजी और शंकररावजी कहेंगे? इसी तरह लोग 'सत्याग्रह' सिद्धान्त को 'गांधी–सिद्धान्त' ही कहते रहेंगे। और इसमें क्या नुकसान है? हम भी बिना संकोच उसे दोनों नामों से पहचानें।

कि. घ. म.

अध्यापक और राष्ट्रकारण

हाल ही में मध्यप्रदेश के किसी शहर में अेक पाठशाला का अुत्सव था। वहां का सारा वायुमण्डल राष्ट्रीयता से ओतप्रोत था। विद्यार्थी और पाठकों की राष्ट्रीय वृत्ति से सन्तोष हुआ। लेकिन अुसी शहर में अेक अैसे अध्यापक भी मिले जिन्हें शायद यह सब पसन्द नहीं था। वे यह मानते थे कि विद्यार्थियों का अेकमात्र व्यवसाय और व्यसन विद्या-ध्ययन––अर्थात् पाठ्य पुस्तकों का श्रवण और मनन––ही होना चाहिअे। अध्यापकों को या विद्यार्थियों को राष्ट्रीय आन्दोलन से कोअी सरोकार नहीं होना चाहिअे। अुनको तो अपनी सारी शक्ति और ध्यान अपनी पढ़ाअी पर केन्द्रित करना चाहिअे। अंधेरी लगे हुअे घोडे की––हॉर्स इन ब्लिंकर्स––की नाअी अुन्हें नाक की सीध में चलना चाहिअे। अिधर–अुधर आंखें दौड़ाने से अुन्हें क्या मतलब?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह सच है कि राजनैतिक वायुमण्डल में रोज़मर्रा जो हेरफेर होते रहते हैं अुनका असर हमारी शालाओं और विद्यालयों के अध्यापकों के विचारों पर या आचार पर कम से कम होना चाहिअे। यही नहीं, सरकार या अधिकारी बदलते ही जो अपने विचारों में सुविधा के लिअे समयानुरूप परिवर्तन कर लेते हैं वे अध्यापक का पवित्र काम करने के लायक ही नहीं हैं। बालकों और युवक-युवतियों के अध्यापक यदि राजनैतिक गिरगिट बन जायँ तो हमारी पाठशालायें राजनैतिक दलों के प्रचार के अखाडे हो जायेंगी। ज़िला कौन्सिल या नगर-पालिकाओं के जो सदस्य या अधिकारी अध्यापकों का अुपयोग अपने चुनाव के काम में करना चाहते हैं और दुध-मुंहे बालकों को अपने प्रतिस्पर्धियों के विरुद्ध प्रचार के काम में लगाते हैं वे खुद अपने बालकों का और देश का द्रोह करते हैं।

लेकिन जो देश पराधीनता में हो और स्वतंत्रता के लिअे तड़प रहा हो वहां के युवक और अध्यापक राजनैतिक आन्दोलन से अेकदम दूर तो नहीं रह सकते। पराधीन देश में राजनीति से परे कोई हो ही नहीं सकता—धारासभाओं के अध्यक्ष भी नहीं। विद्यार्थियों और अध्यापकों को पक्षभेद के आन्दोलन में और पक्षातीत आन्दोलन में विवेक अवश्य करना चाहिअे। अुन्हें चाहिअे कि वे दलबन्दी से, और पक्षोपपक्षों के अधिकारारूढ़ होने के कारण, या अधिकारच्युति के कारण होनेवाले परिवर्तनों से कोसों दूर रहें। कोई अधिकारी या नेता अुन्हें अुसमें अुलझाना चाहे तो दृढ़ता से, अिन्कार करें।

परन्तु साथ ही साथ अुन्हें अिस बात को भी खूब समझ लेना चाहिअे कि वे राष्ट्रीय आन्दोलन से—स्वतन्त्रता के आन्दोलन से—अलिप्त हरगिज़ नहीं रह सकते। हमें यह खेद के साथ कहना पड़ता है कि कुछ अध्यापक भारतवर्ष की अिस नयी और जाग्रत वृत्ति से समरस नहीं हुअे हैं। पुराने ज़माने में सार्वजनिक जीवन में और राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेनेवाले अध्यापक सरकार की आंख में खटकते थे। अध्यापकों को अुनके अूपरी अफ़सर मुमानियत करते थे। लेकिन आज तो ज़माना बदल गया है। आठ सूबों में सरकार ही चाहती है कि विद्यार्थी और अध्यापक राष्ट्रकारण में सक्रिय दिलचस्पी लें। फिर भी आज कअी शिक्षक अपनी पुरानी आदत से मज़बूर हैं। वे अपनी पाठ्य-पुस्तकें और विद्यालय की चहार-दीवारी से परे दृष्टि डालना पाप समझते हैं। राष्ट्रीय नेताओं के व्याख्यानों से अुन्हें परहेज़ है। यह स्पष्ट है कि अिससे अुनके अपने दिल तंग हो जाते हैं और अुनकी शिक्षा महज़ तोते की निष्प्राण बकवास।

यह परिस्थिति शोचनीय और भयावह है। अिन पुराने संस्कारों के मर्ज से ग्रस्त अध्यापकों से अनुरोध है कि वे अपने अुदीयमान राष्ट्र की अुन्नतिशील भावनाओं और आकांक्षाओं से समरस होने की चेष्टा करें और राष्ट्रीय आन्दोलन में क्रियात्मक रुचि बतावें।

८:११:'३८ दा० ध०

अश्लीलता और पाठ्य पुस्तकें

जब हम अश्लील या अुत्तान श्रृंगारिक साहित्य को पाठ्यक्रम से हटाने की सूचना करते हैं तब हमें अपनी भूमिका स्पष्ट करना आवश्यक है। हम मानते हैं कि:—

१. साहित्य की गति जहां तक हो सके अनिरुद्ध रहनी चाहिये। अुसके अूपर राज्यतंत्र का या किसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संस्था का अंकुश जितना कम रहे अुतना अच्छा।

२. वैज्ञानिक दृष्टि से अथवा समाजशास्त्र की दृष्टि से, लोकहित को ध्यान में रखकर, अैसी अनेक वस्तुओं की चर्चा करनी पडती है जो सामान्यतया अश्लील तो गिनी जा सकती हैं। किन्तु किसी भी समाज में अैसी चर्चा अथवा अैसे साहित्य पर रोक नहीं है। अैसी चर्चा का वायुमंडल और अुसकी भाषा-शैली गंभीर, प्रौढ और पारमार्थिक (सीरियस, डिग्निफाइड अँड होलसम) रहे अितनी ही आशा रक्खी जाती है। हमारे धर्मग्रंथों में कअी बाते अैसी स्पष्टता से लिखी गयी हैं कि जिसे हम सामान्य साहित्य मे नहीं ला सकते।

३. दुनिया भरके तमाम साहित्य में श्रृंगार-रस का प्राधान्य रहा है और आगे भी रहेगा। प्रेम, स्नेह, भावुकता, भक्ति, आत्मार्पण, कामुकता और अुन्माद ये वृत्तियां अैसी अुत्कट होती हैं कि वे सब किस्म के भेद और मर्यादाअें तोड़कर अभेद की तरफ, आत्मैक्य की तरफ ले जाने का सफल या विफल प्रयत्न करती हैं। अिसलिअे अिन्हें व्यक्त करने में साहित्य अपनी सारी शक्ति लगाता है। शृंगार, वीर और करुण ये तीन रस ही साहित्य को परमोच्च शक्ति प्रदान करते हैं। काव्यानन्द, ज्ञानानन्द और स्फूर्ति ये तीन प्रेरणाअें साहित्य में प्रधान होती हैं। अिनमेंसे किसी अेक का भी बहिष्कार करने से साहित्य अेकदम दुर्बल और क्षीण बन जायेगा।

४ यह हम मानते हैं कि सामाजिक जीवन का सर्व-सामान्य आदर्श भी जबतक शुद्ध नहीं हुआ तबतक केवल साहित्य की शद्धि का आग्रह भी व्यर्थ है। अिसलिअे लोग साहित्य-शुद्धि का आन्दोलन करने की अपेक्षा जीवन शुद्धि का आन्दोलन करें यही हमारी सिफारिश है।

५ अितिहास-संशोधन की वैज्ञानिक दृष्टि से प्राचीन साहित्य में से हम किसी भी अंश का नाश करना अिष्ट नहीं समझते। कोअी साहित्य चाहे कितना भी बुरा और अनिष्ट क्यों न हो अैतिहासिक संशोधन के साहित्य की अलमारी में अुसे जरूर स्थान मिलना चाहिअे।

हमारा आक्षेप केवल हमारे पाठ्यक्रम तक सीमित है। जो ग्रंथ देश के युवक और युवतियों को पाठ्यक्रम या परीक्षाओं के कारण अनिवार्य-रूप से पढने पडते हैं, अथवा अध्यापकों के साथ बैठकर पढने पडते हैं, अुनमें कभी भी अैसी कोअी चीज नहीं आनी चाहिअे जो चारित्र्य-संगठन और शील-संवर्धन में बाधाप्रद हो अथवा सुरुचि का भंग करती हो।

अैसा आपत्तिजनक साहित्य जीवन की या और किसी दृष्टि से आवश्यक प्रतीत होता हो तो हरअेक व्यक्ति अुसे पढने न पढने के लिअे स्वतंत्र है। हमारी परीक्षाओं और हमारे पाठ्यक्रम के कारण किसीको भी अैसे साहित्य का पठन या अध्ययन जबरदस्ती अनिवार्य रूप से करना नहीं पडना चाहिअे, अितना ही हमारा आग्रह है।

हिंदी साहित्य सम्मेलन ने अेक प्रस्ताव पास करके अिस दृष्टि का सिद्धान्तरूप से स्वीकार किया ही है। अब अुसीको तुरन्त कार्यान्वित करनेका ही सवाल है।

हमारी सूचनाअें ये हैं:—

१. जिन ग्रंथों में अुत्तान शृंगार, या अश्लीलता (या निरर्थक कृत्रिमता) ही भरी हुई है अैसे ग्रंथों को हम अपने पाठ्यक्रम में स्थान ही न दें। अगर अुनको स्थान मिल गया हो तो अुस भूल को तुरन्त सुधार लें।

२. जो ग्रंथ सामान्यतया शुद्ध और अुपयुक्त हैं, जिनका वायुमंडल निरोगी, पौष्टिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और प्राणप्रद है अैसे ग्रंथों में अगर अूपर बतायी हुअी आपत्तिजनक बातें क्वचित् आती हों तो अुतना अंश पाठ्यक्रम में से हटाया जाय। और

३. अैसे ग्रंथों के संशोधित संस्करण छपाये जाने पर ही अुन्हें पाठ्यक्रम में रक्खा जाय।

४. अितना करने पर भी अगर किसी ग्रंथ में जिसे आपत्तिजनक गिना जा सकता है अैसा संशयास्पद अंश रह जाय तो सब अध्यापकों को हिदायत दी जाय कि अुतना हिस्सा पढ़ाने की आवश्यकता नहीं है। और

५. परीक्षकों को भी स्पष्ट आदेश दिया जाय कि अैसे हिस्से में से अथवा अुससे सम्बन्ध रखनेवाले प्रश्न लिखित या मौखिक परीक्षा में न पूछे जायँ।

अिसके साथ साथ और भी एक सूचना करना आवश्यक है।

रीतिकाल के ग्रंथों में जगह जगह पर शृंगार आता है जिसमें कुछ हिस्सा तो असह्य-रूप से सुरूचि-नाशक और आपत्तिजनक होता है और अुसमें कृत्रिमता तो होती ही है। अिसलिअे रीतिकाल का अथवा रीतिशैली का अैसा अेक भी ग्रंथ पाठ्यक्रम में न रखने का हम निश्चय करें।

किन्तु यह काम किसी सुयोग्य व्यक्ति के सुपूर्द किया जाय कि वे रीतिकाल के तमाम साहित्य का मंथन करके रीतिकाल का अेक प्रातिनिधिक ग्रंथ बना दें कि जिसमें रीतिकाल का सामाजिक और साहित्यिक अितिहास भी आ जावे और रीतिकाल का कुछ स्पष्ट खयाल आ सके अैसे पर्याप्त सौम्य उदाहरण भी आ जावें; जिससे रीतिकाल के प्रधान कवियों की भाषाशैली, विचार-प्रणाली और जीवन के आदर्श का काफी परिचय हो जाय। अैसे ग्रंथ में अगर सुरुचि सम्हालने की पूरी पूरी कोशिश की जाय तो वह ग्रंथ सर्वोच्च परीक्षा में पाठ्यपुस्तक के तौर पर भी रक्खा जा सकता है।

शुद्ध और अुत्कट भक्ति के ग्रंथों में भी अत्यधिक शृंगार की मात्रा कभी कभी पायी जाती है। पवित्र संतों की अैसी वाणी की हमें कद्र तो करनी ही चाहिअे। किन्तु अिसे पाठ्यक्रम में स्थान देना ही चाहिअे अैसा आग्रह हम क्यों करें? मनोविश्लेषण का कोअी आचार्य, शुद्ध भक्ति और अुत्कट कामुकता के सारूप्य और साधर्म्य का अध्ययन करके यदि कोअी अैसा ग्रंथ बना दे कि जिसमें भक्ति-साहित्य में शृंगार का वातावरण कैसे आ सकता है अिसकी मीमांसा हमें मिल जाय तो साहित्य का तथा समाज का बडा अुपकार होगा।

केवल साहित्यिक और व्यापक सामाजिक दृष्टि से जो साहित्य हम निर्दोष गिन सकते हैं वह भी युवकों के और युवतियों के पठन-पाठन के लिअे सुझाने में हमें काफी विचार और सावधानी से काम लेना चाहिअे। अैसा साहित्य युवक-युवतियां स्वतंत्ररूप से खानगी तौरपर नहीं पढेंगे अैसी कल्पना नहीं है; किन्तु संस्था के शिष्टाचार और मान्यता की मुहर अुनपर नहीं लगनी चाहिअे।

हमारे देश में भिन्न भिन्न धर्म, भिन्न भिन्न सम्प्रदाय और विभिन्न आचारविचार के लोग रहते हैं। यहां तो सर्वसामान्य परीक्षाक्रम में विशेष सावधानी रखना ही अुचित है।

६-११-३८ का० का०

भारतीय राष्ट्र-धर्म की शिक्षा

एक राष्ट्र-प्रेमी प्रतिष्ठित मित्र शिकायत करते हैं कि आज भी कुछ शालाओं में नागरिक-नीति की अराष्ट्रीय पुस्तकें पढ़ायी जाती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। अुनमें से कुछ पुस्तकों में तो यह भी कहा गया है कि हिन्दुस्थान अेक राष्ट्र ही नहीं है। यदि यह सच है तो हमारी प्रान्तीय सरकारों को अिसकी तरफ़ अवश्य ध्यान देना चाहिअे। यह शिकायत मध्यप्रदेश के बारे में है। वह कहांतक वास्तविक है यह हम प्रत्यक्ष नहीं जानते। लेकिन अुसकी तह में जो तत्त्व है अुसका थोड़ा विचार करना ज़रूर है। दूसरे सूबों का हाल हम नहीं जानते। आज तो हमारे देश के आठ प्रान्तों के शिक्षामन्त्री काँग्रेसवादी और राष्ट्रीयता को माननेवाले हैं।

हिन्दुस्थान को एक राष्ट्र मानने से अिनकार करनेवालों में दो तरह के लोग हैं। अेक तो वे विदेशी लेखक और राजनीतिज्ञ जिनके स्वार्थ का यह तकाज़ा है कि वे हिन्दुस्थान को एक अस्तव्यस्त जनपद बतावें,—जमीनका महज़ एक टुकड़ा जिसके न अितिहास है, न परम्परा, न कोअी संयुक्तजीवन। लेकिन हम यह भी जानते हैं कि कुछ भारतवासी भी अैसे हैं जो अिसे अेक राष्ट्र नहीं मानते। कम से कम अेक अैसे सुप्रसिद्ध नेता को हम जानते हैं जो यह कहते हैं कि भारतवर्ष अेक राष्ट्र या अेक देश नहीं है; वह तो भरतखंड है। अर्थात् भारतवर्ष अेक महाद्वीप या संयुक्तराष्ट्र है। अुनकी राय में अिस देश के हरअेक प्रान्त की अपनी अपनी ख़ास प्रकृति है, अितिहास है और परम्परा है। हरअेक प्रान्त अेक स्वतन्त्र राष्ट्र है। वे प्रान्तीय प्रकृति के द्योतक कुछ मजे के और मोटे लौकिक प्रमाण भी देते हैं। अुनकी राय में महाराष्ट्र की प्रकृति गंभीर, व्यवहारनिष्ठ और ठोस है; और गुजरात की छिछली, दिखाअू और शेखी बताने की। अिसका सबूत अुनकी राय में अिन दो प्रान्तों की स्त्रियों के आभूषण हैं। महाराष्ट्रीय महिलाओं के गहने छोटे, देखने में सीधेसादे मगर ठोस और मजबूत होते हैं। गुजराती ललनाओं के अलंकार बड़े अूपर की टीमटामवाले मगर अन्दर से पोले होते हैं। अिस पर से स्पष्ट है कि अिस देश के प्रान्तों की प्रकृति भिन्न भिन्न है। अुसका कोई अेक व्यक्ति नेता नहीं हो सकता। अेक प्रान्त का नेता किसी दूसरे प्रान्त की जनता का अगुआ कैसे हो सकता है? अखिल भारतीयता अेक स्वप्न मात्र है। भ्रान्त कवि और बेवकूफ़ भावुक देशभक्त भले ही उसके गीत गाया करें। वास्तविकता के प्रदेश में यह "आकाशपुष्प" कभी आनेवाला नहीं है।

हमारी समझ में अिन प्रसिद्ध नेता की यह राय भ्रान्ति-मूलक और भ्रान्ति-जनक है। भारतवर्ष की अेकराष्ट्रीयता के सांस्कृतिक और अैतिहासिक प्रमाण विद्यमान हैं। अुन प्रमाणों का विचार करनेवाला कोई भी व्यक्ति यह कहने का दुःसाहस नहीं कर सकता कि भारतवर्ष अेक राष्ट्र नहीं है। भारतीय राष्ट्रीयता के विकास का अितिहास बहुत ही अुद्बोधक और रोचक है। लेकिन अुसके वर्णन का यह स्थान नहीं है। फ़िर भी अितना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है, कि प्राचीन भारत में अेक तरह का राष्ट्र-धर्म था जिसके दो अंग थे:—(१) सारा भारतवर्ष अेक है। (२) सारा भारतवर्ष पवित्र है।

राष्ट्रीयता की भावना का सम्बन्ध मानवीय हृदय से है, अिसलिअे अुस भावना का विकास भी मनुष्य-हृदय के विकास के साथ साथ होता जाता है। प्राचीन लोक-शिक्षकों ने अपने ग्रन्थों और सार्वजनिक कथा-कीर्तन-प्रवचनों द्वारा पुराने राष्ट्रधर्म का प्रचार किया। आज के लोक-शिक्षकों और पाठशाला के अध्यापकों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को भी आज के राष्ट्रधर्म की शिक्षा देनी चाहिअे। आज के भारतीय राष्ट्रधर्म के प्रमुख लक्षण ये कहे जा सकते हैं:—

(१) भारतवर्ष अेक और अविभाज्य है। ईश्वर और मनुष्य-जाति की सेवा का वह हमारे लिअे मुख्य साधन है।

(२) स्वदेशवासियों की सेवा स्वधर्म का प्रथम सूत्र है।

(३) भारत हमारी मातृभूमि होने के कारण अुसके प्रति हमारा प्रेम असीम है। अिसका अर्थ यह नहीं है कि दूसरे देशों के लोगों के प्रति हम प्रेम न करें या अुनका हित न चाहें।

(४) संसार के सभी देशों के प्रति समभाव रखते हुअे भारत की स्वतंत्रता में बाधक होनेवाली सारी हस्तियों और संस्थाओं का हम शुद्ध साधनों से विरोध करेंगे।

(५) भारत से बाहर रहनेवाले लोगों की अपेक्षा सभी धर्म-जाति-वर्ण और वर्गों के भारतवासियों से हमारा संबंध अधिक स्वाभाविक और घनिष्ट है, और वे हमारे स्वाभाविक तथा सबसे निकट पडोसी होने के कारण हमारी सेवाओं के पहले अधिकारी हैं यह न भूलेंगे। अिसी का नाम स्वदेशी धर्म है।

आशा है पाठ्यपुस्तकों द्वारा अिस विशुद्ध और स्वास्थ्यकर राष्ट्रीयता का प्रचार हो अिसकी तरफ शिक्षा-मन्त्री ध्यान देंगे। जो पाठ्य-पुस्तकें नागरीक—नीति के बहाने अराष्ट्रीयता का प्रचार करें वे निषिद्ध मानी जानी चाहिअे। नागरिकता और राष्ट्रीयता अविरुद्ध ही नहीं बल्कि अभिन्न हैं। संसार में आज राष्ट्रवाद के नामपर जिस संकीर्ण राष्ट्रीय स्वार्थ का प्रचार हो रहा है अुसका विकास हम भारत में नहीं करना चाहते। राष्ट्रवाद विश्वहित का विरोधी है। राष्ट्रधर्म अुसका पोषक है।

१२–११– ३८ दा० ध०

सुशिक्षित द्वितीया

हिन्दू समाज में बहुपत्नीकत्व का रिवाज़ बहुत प्राचीन है। सौतिया डाह तो हमारी भाषा का अेक मुहावरा ही हो गया है। याज्ञवल्क्य जैसे अलौकिक ऋषि भी अेक से अधिक पत्नियों के साथ रह सकते थे। अिस रिवाज़ के दोष कवि वाल्मीकि ने अपनी रामायण के प्रारम्भ में ही दिखाये हैं। दशरथ के जीवन का करुण अन्त बहुपत्नीकत्व का मानो अेक स्वाभाविक पर्यवसान ही है। मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र ने अपने पिता के जीवन के विरुद्ध मुंह से अेक शद्ब भी नहीं निकाला परन्तु अपने दृढ़ अेकपत्नीव्रत द्वारा अपना अभिप्राय स्पष्ट रूप से प्रकट किया। राम लक्ष्मण आदि चारों भाअियों ने अेक अेक पत्नी से सन्तोष मानकर गृह-कलह दूर करने का रास्ता बताया। तो भी हिन्दू समाज में बहुपत्नीकत्व का रिवाज़ अभी अभी तक जारी रहा और आज भी वह निषिद्ध नहीं है।

अरबस्तान में जहां वैवाहिक नीति अुस वक्त अत्यन्त ही शिथिल थी वहां पर अिस्लाम के पैगम्बर ने अेक साथ चार पत्नियों से अधिक पत्नियां न रखने का नियम बना कर समाज को संयम का ही रास्ता दिखाया। और अुसमें भी अगर चार पत्नियों को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पति समानता से रख न सके तो अुसको अेक ही पत्नी से सन्तोष मानना चाहिअे अैसी भी अेक मर्यादा बना दी। झुकाव संयम की तरफ ही था।

बहुपत्नीकत्व का रिवाज़ या तो राजविलासी लोगों में होता है, या श्रमोपजीवी किसानों में पाया जाता है। किन्तु यदि सह-जीवन, और प्रेमानुभव, अखंड, गम्भीर और कल्याणप्रद बनाना हो तो अेकपत्नी–निष्ठा अत्यन्त आवश्यक है। अंग्रेजों के अिस देश में आने से अुनके सामाजिक आदर्शों का भला बुरा परिणाम हम लोगोंपर हुआ ही है। वे अेक-पत्नी–निष्ठा के आग्रही हैं। अनेकभार्या–योग अुनके समाज में दण्डनीय गुनाह माना जाता है। अंग्रेजों की प्रेरणा से और शिक्षा के नये आदर्श से सुशिक्षितों में अेकपत्नी–निष्ठा का सामाजिक आदर्श करीब करीब सारे देश में आज मान्य हो चुका है। पढे लिखे लोगों में बिरला ही कोअी प्रथम स्त्री के जीते जी दूसरी से शादी करता था।

किन्तु यह सुधार अब ख़तरे में है। अुन्नीसवीं शताब्दी के सामाजिक आदर्श अब यूरोप में भी बहुत कुछ शिथिल हो गये हैं। जैसा कि गीता में कहा है, महायुद्ध के बाद हमेशा दाम्पत्यनिष्ठा ढीली हो ही जाती है। अिसी कारण शायद हमारे समाज में सभी प्रान्तों मे अेक नया ही संकट अुत्पन्न हुआ है। सुशिक्षित लोगों के लिअे अन्य सुशिक्षित स्त्रियों से अनुचित संपर्क बढ़ाने का रिवाज़ रूढ़ होता जा रहा है। अिस में से कहीं कहीं प्रेम-प्रसंग का अुद्भव, चाहे फिर वह कितना ही अनिष्ट क्यों न हो, अस्वाभाविक नहीं है। अिस संकट से समाज को बचाने के लिअे जो मर्यादाअें आवश्यक हों अुनका प्रतिपालन समाज को आग्रहपूर्वक कराना चाहिअे। किन्तु स्त्री–पुरुषों का निर्दोष परिचय और सहयोग अबाधित रखना ही चाहिअे।

किन्तु आजकल सभी प्रान्तों में कहीं कहीं कोअी सुशिक्षित स्त्री किसी विवाहित पुरुष के साथ शादी करने के लिअे तैयार हो जाती है और सारे समाज को चकित कर देती है। और विशेष आश्चर्य तो यह है कि समाज में अैसे विवाह का तिरस्कार भी कोअी नहीं करता। नवयुवक तो अैसे विवाह का भी अभिनन्दन करते हैं और प्रथम पत्नी को ही दोषी बताकर पति के साथ समवेदना प्रकट करते हैं। स्त्री–जाति के हित के लिअे ही अेकपत्नी निष्ठा का आग्रह देशभर में फैलाया गया। अगर स्त्रियों ने ही अिस आदर्श का पालन न किया तो सामाजिक सुस्थिति का शीघ्र ही अन्त हो जायगा और स्त्री जाति का समादर भी नष्ट हो जायगा। विवाह मनुष्य–जीवन के लिअे अेक अत्यन्त अुत्कट, अनन्य-साधारण और आध्यात्मिक सम्बन्ध है। अिसके पालन से अपनी सब हीन वृत्तियों का दमन कर मनुष्य अूपर अुठ सकता है यही अिस सम्बन्ध की सुगन्ध और कृतार्थता है।

स्त्रीजाति को अिस नये संकट पर गंभीर विचार करना चाहिअे और अिस सामाजिक व्याधि के निवारण का व्यक्तिगत और सामाजिक अुपचार खोजना चाहिअे।

का० का०

कौअे की नजर

अेक जगह गांधीजी ने कहा है कि अगर मुझमें विनोदवृत्ति न होती तो मैं कब का आत्म-हत्या कर लेता! अुनका मतलब यह है कि ज़िन्दगी को रुचिकर बनाने के लिअे अुसमें थोडीसी निर्दोष विनोदवृत्ति तो चाहिअे ही।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिस विनोद में कटुता न हो, केवल ठठोली या मखौल करके अपमान करने की वृत्ति न हो, ताना कसने की या व्यंगभरी निन्दा करने की मंशा न हो, किन्तु सहृदयता और सभ्यता की हँसी-ठट्ठा हो, वह विनोद शुद्ध निरागस और सुशील कहा जा सकता है। अिस अंक में किशोरलालभाअी को लेकर अैसा ही कुछ मज़ाक शुद्धभाव से किया गया है। अुल्लुओं के विषय में विभिन्न देशों में अलग अलग धारणायें प्रचलित हैं। कुछ अुन्हें बुद्धू, मनहूस और असगुनी मानते हैं, तो दूसरे कुछ शुभ, सयाने और चपल। साबरमती के अुल्लू के विषय में हम कमसे कम अितना तो कह सकते हैं कि वह भलामानस है और दुनिया में किसी की बुराअी नहीं चाहता। 'काकदृष्टि' तो सूक्ष्मता और दोषदर्शन के लिअे हमारे प्राचीन साहित्य में प्रसिद्ध है। लेकिन अिस डर से कि कहीं अुसकी कुत्सित वृत्ति अनर्थ न करे, अुसे भगवान् ने 'अेक-नयन' ही बनाया है। दोषदर्शन का कुछ हदतक अेकांगी होना अनिवार्य ही है। सवाई भूशुंडी की नज़र भी बडी तीखी तो है। लेकिन है वह भी आखिर अेकाक्ष ही। अुसने अपने विषय की अेक ही बाजू देखी है और अुसी पर प्रकाश डाला है। सवाई भूशुंडी के लिअे भी हम अितना अवश्य कह सकते हैं कि कौआ होने के कारण ही वह काना भले ही हो; मगर दूसरे कानों की तरह 'कुटिल' या 'कुचाली' नहीं है। सवाई भूशुंडी का सद्भाव और शिष्टता से परिपूर्ण परिहास और दिल्लगी अगर पाठकों को रुचे तो वह काका साहब और दूसरे व्यक्तियों को भी अपनी दृष्टि का निशाना बनायेगा।

दा० ध०

प्रश्नोत्तरी

"किंकृत्वा सुकृतं भवेत्.?"

जीवन में कदम कदम पर यह सवाल अुठता है कि खास परिस्थिति में हमारा कर्तव्य क्या है? जीवन के सिद्धान्त तो सार्वभौम होते हैं। किन्तु नित्य के व्यवहार में अुनका पालन कैसे किया जा सकता है अिसका निर्णय आसानी से नहीं होता। ज्ञानी, और तत्त्व-दर्शी लोगों को तो सेवा-शुश्रूषा और प्राणिपात से ज्ञान प्राप्ति हो सकती है। किन्तु सामान्य लोग अेक दूसरे से प्रश्न परिप्रश्न पूछ-कर ही कर्तव्य का निर्णय और अपने ज्ञान में वृद्धि कर सकते हैं।

हमारे पास 'सर्वोदय' के संपादक के नाते समय-समय पर प्रश्न आते हैं। सर्वोदय के संपादक हो गये अिसीलिये हम सर्वज्ञ, और धर्मवित् थोडे ही बन सकते हैं।

जिन प्रश्नों के जवाब 'सर्वोदय' के द्वारा देना फायदेमन्द या अुचित होगा अुन प्रश्नों की चर्चा सर्वोदय द्वारा करने के लिअे अगले महिने से प्रश्नोत्तरी का विभाग हम खोल रहे हैं। जिस प्रश्न का जबाब जिनके देने से पृच्छक को समाधान होने की संभावना हो अुन्हींके पास वे प्रश्न भेजे जायेंगे। सार्वजनिक चर्चा के लिअे जो प्रश्न अनुपयुक्त हैं अथवा अयोग्य हैं अैसे प्रश्नों को छोड देने की मर्यादा प्रश्न पूछने वाले और जबाब देने वाले दोनों को संभालनी होगी। आजकल का जमाना ही चर्चा और विचारमंथन का है। अिन दिनों कोअी महत्त्व का प्रश्न अुठाना और जीवन के जिस पहलू पर समाज की निगाह नहीं पडी है अुसकी ओर ध्यान खींचना यह भी कुछ मामूली सेवा नहीं है।

का० का०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संघ-वृत्त

अेक समझने की बात

फर्ज कीजिये कि '**सा**' अेक छोटासा सदस्य है। अेक देहात में बैठा है, और अपनी शक्ति के अनुसार कुछ सेवा कार्य करता है। आज अैसा कौन सेवक है जिसे अडचनों का अनुभव न होता हो? '**सा**' को भी होता है। दूसरे कार्यकर्ताओं से मिलने का मौका आने पर बातचीत में वह अपनी अडचनें सुनाता है। इन कार्यकर्ताओं को '**सा**' की लगन के लिअे बहुत आदर है। उन्हें अैसा मालूम होता है कि अगर वह उनके साथ काम करने आ जाय, तो वे उसका ज्यादा सदुपयोग कर सकेंगे। शायद वे यह भी कल्पना करते हैं कि '**सा**' अपनी मुश्किलों के कारण कुछ निराश भी हुआ है। इसलिअे उन्हें '**सा**' को अपने क्षेत्र में खींचने की इच्छा होती है। फिर, जिस तरह कभी कभी बाजार में हुआ करता है कि हरेक दूकानदार राहगीरों को अपनी दूकान पर बुलाता है, उसी तरह ये कार्यकर्ता '**सा**' को अपने अपने क्षेत्र में खींचने के लिअे बातें शुरू करते हैं।

इसमें हेतु तो अच्छा होता है। लेकिन यह रीति अच्छी नहीं है।

पहली बात जब कोअी छोटा सेवक किसी बडे कार्यकर्ता को अपनी कठिनाइयों का हाल सुनाता है, तब उसका मतलब हमेशा यह नहीं होता कि वह अपने क्षेत्र को छोडना चाहता है। समभावी और ज्यादा अनुभवी कार्यकर्ता के पास अपनी अडचनों की बातें करने से कुछ मार्गदर्शन मिल जायगा, यह उसकी अेक आशा होती है। कभी कभी अपनी कठिनाइयों की बातें मित्रों को सुनानेभर ही से कुछ ढाढस बंध जाता है। और दिल का भार हलका होता है।

इसलिअे मित्र सेवकों का साधारण कर्तव्य यह है कि उसको कुछ हिंमत दिलावें, उसके निश्चयों को ज्यादा मजबूत करें और उसकी अडचनों का सामना करने की कोई तरकीब बता सकें तो बतावें। लेकिन, उसके सामने क्षेत्र बदलने की कल्पना न रखनी चाहिअे।

अगर मित्रों की यह निश्चित राय हो जाय कि '**सा**' का उस क्षेत्र में रहना बेकार ही है तो, या तो जिस प्रान्त में '**सा**' काम करता हो उस प्रान्त के संघ के प्रमुख कार्यकर्ता के अथवा संघ के अध्यक्ष के सामने '**सा**' की परिस्थिति रखनी चाहिअे, और अपनी राय देनी चाहिअे। अगर वे उसे अपने क्षेत्र में बुलाना चाहें तो उसे अपनी इच्छा कहनी चाहिअे।

अैसा न करने से छोटे सेवकों में बुद्धिभेद हो जाता है। उसका मार्गदर्शन होने के बदले उलटा वह ज्यादा असमंजस में पड जाता है।

'**सा**' को भी इस बात को समझ लेना चाहिअे। अगर अुसको अपना क्षेत्र बदलने की कोई राय दे अथवा अपने क्षेत्र में बुलाना चाहे, तो उसको अपने प्रान्त के या संघ के प्रमुख से पहले मशवरा करने का अनुरोध करना चाहिअे।

संघ में इस वक्त कुछ छोटे सेवकों की परिस्थिति इस प्रकार की है कि वे संघ के नियमों से तो मेरे या अपने प्रान्त के प्रमुख के या चरखा संघ जैसी कोई खास संस्था के हुक्म के नीचे हैं। लेकिन, अुनके अपने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्वास के नेता या गुरु कोई दूसरे ही कार्यकर्ता होते हैं। इसलिअे प्रमुख की अपेक्षा वे उनकी तरफ ज्यादा देखते हैं। यह परिस्थिति स्वाभाविक है। और अगर समझदारी से काम लिया जाय तो इस में कोई दोष नहीं है। समझदारी इस तरह की चाहिअे। फर्ज कीजिये कि '**सा**' संघ का अेक सदस्य है, लेकिन वह '**सा**' '**प**' का शिष्य है। '**सा**' और '**प**' के बीच में '**सा**' के कार्य के क्रम या तरीके में कुछ अैसा फेरफार करना सोचा जाता है, कि उसे अमल में लाने से पहले अपने ऊपरी की इजाजत लेना जरूरी है। अैसी परिस्थिति में कोई भी पक्का विचार कर लेने के पहले '**प**' का यह कर्तव्य है कि वह स्वयं उस ऊपरी के साथ मशवरा करे, और बाद में '**सा**' को उचित सलाह दे। अगर वह '**सा**' के साथ पहले ही से पक्का विचार कर लेता है, और बाद उससे कहता है कि उसे उस का अमल करने के लिअे अपने ऊपरी की इजाजत ले लेनी चाहिअे, तब ऊपरी की स्थिति कुछ नाजुक हो जाती है। इन बातों का हमेशा ख्याल रखना चाहिये।

कि. घ. म.
अध्यक्ष, गां. से. संघ

चौथे सम्मेलन का विवरण

संघ के डेलांग अधिवेशन का विवरण छप गया है। सर्वोदय के दिसम्बर के अंक के साथ साथ ही वह सदस्यों की सेवा में भेज दिया जायगा। अन्य सज्जन १) रु० भेजकर मंगा सकते हैं।

वाङ्मय परिचय

१. 'हमारे गांवों की कहानी'
२. 'हमारे गांवों का सुधार और संगठन'
लेखक—स्वर्गीय श्री. रामदासजी गौड
प्रकाशक—सस्ता साहित्य मण्डल, देहली।
(पहली पुस्तक पृष्ठ २००; मूल्य आठ आना, दूसरी पुस्तक पृष्ठ ३५०, मूल्य अेक रुपया। मंडल के स्थायी ग्राहकों को पौने दाम में।)

स्वर्गीय गौडजी हिन्दी संसार के सुपरिचित और प्रख्यात लेखक हैं। अुनकी प्रगाढ़ विद्वत्ता और उत्कट राष्ट्रीयता छिपी नहीं है। अर्थात् अुनकी पुस्तकों में विशेषता होना स्वाभाविक है।

पहली पुस्तक में सतजुग, अर्थात् वैदिक काल, से लेकर वर्तमान समय तक की हमारे गांवों की अैतिहासिक कथा दी गयी है। अिस अैतिहासिक विवरण में वैदिककाल, रामायण और महाभारतकाल, बौद्धकाल और चाणक्य-चंद्रगुप्त का समय, फिर गुप्तकाल और हर्षकाल, बाद में मुसलमानों का प्रारम्भिक काल अेवं मुगलों का समय, फिर जॉन कंपनी का जमाना और बाद में अब तक की गांवों की दशा पुराने ग्रंथों के अुद्धरण देकर बतलाअी गअी है। यह कहानी अति करुण है। अेक समय का देहात का सतजुग मनुष्य की करनी से धीरे-धीरे कलियुग कैसे हो गया अिसका किस्सा पढ़कर मन अुद्विग्न हुअे बिना नहीं रहता।

हम जानते हैं कि भारत के पुराने अितिहास की सामग्री अधूरी है जिसके कारण पुरानी बातों का चित्रण संपूर्ण सही मानना कठिन हो जाता है। यत्रतत्र बिखरे हुअे आधारों पर किये गये सार्वत्रिक अनुमानों का गलत भी होना संभव है। अुसमें भी आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था अितनी पेंचीदा चीज़ है कि अुसका संपूर्ण दर्शन करा सकना मुश्किल हो जाता है। तथापि ग्रंथकर्ता के विस्तृत अध्ययन ने और शोधकबुद्धि ने हमारे सामने काफी सामग्री तथा विचार रख दिये हैं कि जिनके आधार से हम पुराने जमाने के गांवों की अपने कामलायक मोटी कल्पना कर सकते हैं। यह वृत्तान्त पढ़कर कोई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संदेह नहीं रह जाता कि 'राजा कालस्य कारणम्' वाली कहावत बिलकुल सही है। अेक समय था कि जब देहात स्वयंशासित, पूर्ण स्वावलंबी और सुखी था। साधारण बिचले समय में, बौद्ध-काल में ही, "लोग दुख भरे शहरों में रहना अिस लोक और परलोक दोनों के लिअे बुरा समझते थे।" यह स्थिति बदलकर अब क्या हो गया सो हमारे सामने है ही।

ग्रंथकर्ता के शब्दों में "अिस कहानी के लिखने का उद्देश यह है कि हम अच्छी तरह देखें कि हमारी अन्नति कहां तक हुअी थी और आज हमारा पतन किस हद तक हुआ है। वर्तमान स्थिति जानने के लिअे भूत-कालीन स्थिति जानना आवश्यक है। भावी अुन्नति और अुत्थान के लिअे ठीक मार्ग निश्चय करने में भूतकाल का अितिहास बड़ा सहायक होता है।"

दूसरी पुस्तक "सुधार और संगठन" में भविष्य का विचार किया गया है। देहात से संबंध रखनेवाले कअी विषयों का विस्तृत विवेचन किया गया है। बेकारी, भूमिकर, जमींदार–साहूकार और किसान के संबंध, कर्ज और मुकद्दमेबाजी, गोरक्षा, किसानों का संगठन, आर्थिक सुधार, ग्रामअुद्योग और अन्य रोज़गार, मकान, बाजार और अुत्सव, सामाजिक और धार्मिक बातें, स्त्रियों का सुधार, ग्रामस्वराज्य, ग्राम-सेवकों के कर्तव्य और गावों में काम करने की रीति आदि विविध विषयों पर ग्रंथकर्ता ने अपने विचार विस्तार से लिखे हैं। गांवों का कारोबार अुत्तम रीति से चलाने के लिअे शिक्षा, रक्षा, व्यवसाय और सेवा के लिअे पंचायतें निर्माण करने की सिफारिश कर, स्वयंसत्ताक, स्वावलंबी और सुखी गांवों का मनोरम चित्र खींचा है।

ग्रंथकर्ता ने अनेक विषयों पर अपने विचार प्रगट किये हैं अुनमें से कुछ के विषय में मतभेद हो सकता है। हम यह भी भूल नहीं सकते कि गांवों के सुधार के मार्ग में कअी अडचनों के पहाड खडे हैं। गांव-वालों की जड़ता भी हमें कुछ कम परेशान नहीं करती। सर्वत्र परावलंबन है और राज की ओर से पूरी सहायता कब मिलेगी सो तो परमात्मा जाने। सर्वत्र विद्यमान गलाघोंट स्पर्धा तो देहात को सर्वथा विनाश के घाट अुतार ही रही है। अिस परिस्थिति में हमारी सदिच्छा कितनी ही हो, पर हम देहात की भलाअी कैसे कर सकते हैं, यह बडा बिकट प्रश्न है। अिन बातों का विचार करते हुअे, तथा वस्तुस्थिति को निगाह में रखते हुअे, ग्रंथकर्ता का कार्यक्रम अमल में कैसा लाया जा सकता है अिसका अिस पुस्तक में विवेचन होता तो वह बहुत अधिक व्यावहारिक उपयोग की वस्तु हो सकती। तथापि अिन पुस्तकों में गांवों के कार्यकर्ताओं को अपने काम के लिअे खूब सामग्री मिलेगी और साथ ही बहुमूल्य मार्गदर्शन भी।

अंत में यहां पहली पुस्तक से भगवान बुद्ध की ग्रामसेवा संबंधी अेक अुद्धरण देना लाभदायक होगा—

"अेक जातक में लिखा है कि बोधि-सत्त्व और गांववाले मिलकर रम्बे और फावडे लेकर फिरे। गलियों और सड़कों में जहां कहीं पत्थर या रोडे थे, रम्बों से निकालकर किनारे लगाते गये और जो बेमौके राह में पेड़ पड़ते थे, जिनसे रथों के और गाड़ियों के चलने में रुकावट होती थी अुन्हें फरसों से काट डाला, ऊंचीनीची, ऊबडखाबड, जगहों को बराबर कर डाला। अुन्होंने सडकें ठीक कर डालीं, पानी के तालाब बना डाले और अेक बड़ा दालान तैयार कर डाला, परन्तु अुसकी छत के लिअे अुनके पास सामान न था। वह अेक देवी के पास था, जिससे मोल लेने को अुनके पास धन न था। पर अुनके काम में शरीक होने के लिअे वह राजी हो गअी और अुन्हें सब सामान मिल गया।"

२०:१०:३८ श्रीकृष्णदास जाजू

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

079815

'सस्ता साहित्य मण्डल' का संक्षिप्त परिचय

: १ :

सस्ता साहित्य मंडल 'सोसाइटीज रजिस्ट्रेशन एक्ट' के अनुसार एक रजिस्टर्ड संस्था है।

: २ :

हिन्दी में उच्च कोटि का राष्ट्रीय साहित्य सस्ते मूल्य में प्रकाशित करने के उद्देश से सन् १९२५ में सर्वश्री जमनालाल बजाज, घनश्यामदास बिड़ला, हरिभाऊ उपाध्याय, महावीरप्रसाद पोद्दार, आदि सज्जनों ने इसकी स्थापना की।

: ३ :

मण्डल से अबतक लगभग ८० पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं; जिसमें लगभग आधी के दो से लगातार सात संस्करण तक हो चुके हैं। आगे मण्डल 'लोक साहित्य माला' तथा चार अन्य लोकोपयोगी मालाओं के रूप में अपने प्रकाशनों का क्षेत्र बहुत बढ़ा रहा है।

: ४ :

महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू और च० राजगोपालाचार्य जैसे महान् नेता; टाल्स्टाय, ह्यूगो, मोटले, क्रोपाटकिन, केम्पिस, मार्डेन, मैक्स्विनी जैसे पश्चिमी विचारकों तथा काका कालेलकर, किशोरलाल मशरूवाला, स्व० रामदास गौड़, हरिभाऊ उपाध्याय, वामन मल्हार जोशी, जैसे भारतीय साहित्य के प्रसिद्ध लेखकों की रचनायें मण्डल से प्रकाशित हुई हैं।

: ५ :

मण्डल के संचालक-मंडल में भारतवर्ष के निम्नलिखित सुप्रसिद्ध लोकनेता, व्यवसायी, साहित्यसेवी और कार्यकर्त्ता हैं:—

श्री घनश्यामदास बिड़ला, अध्यक्ष, दिल्ली।

श्री बाबू राजेन्द्रप्रसाद, पटना : श्री जमनालाल बजाज, वर्धा
श्री काका कालेलकर, वर्धा : श्री हरिभाऊ उपाध्याय, अजमेर
श्री महावीरप्रसाद पोद्दार, गोरखपुर : श्री जीतमल लूणिया, अजमेर

श्री मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री, दिल्ली

सूचना—

'सर्वोदय' में आम तौर पर अश्तिहार नहीं लिये जायेंगे। अपवाद केवल वाचनीय ग्रन्थ और देशसेवा करनेवाली संस्थाओं के लिये रहेगा। अिनके अिश्तहारों के दाम नहीं लिये जायेंगे। केवल कागज, छपाई और डाकखर्च लेकर अिश्तिहार छापे जायेंगे। जो साहित्य या संस्था निर्विवादरूप से लोकोपयोगी है, अुसीको स्थान दिया जायगा, और वह भी अेक ही बार। यह व्यवस्था केवल समाज-सेवा और ग्राहकों के हित की दृष्टि से चलायी जायगी।

व्यवस्थापक, 'सर्वोदय,' वर्धा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
Reg. No. N. 741

रोचक और पथ्य वाचन

आस्वाद

कविवर मैथिलीशरण गुप्त की चुनी हुई
कविताओं का सरस संग्रह ०–६–०

कला : अेक जीवन–दर्शन

आ० काका साहब की कला की
नयी विस्तृत मीमांसा ०–८–०

सप्तसरिता

भारत की पवित्र ७ नदियों को श्रद्धांजलि
काका कालेलकर कृत गद्य-काव्य ... ०–४–०

गुलदस्ता भाग १

चलती हिन्दी की चुनी हुओ कविताओं का संग्रह ०–४–०

गुलदस्ता भाग २ ... ... ०–५–०

चलती हिन्दी

गद्य संग्रह ०–८–०

राष्ट्रभाषा की तीसरी पुस्तक

राष्ट्रभाषा सीखने के लिये अत्यंत उपयुक्त पुस्तक ०–६–०

हिंदूधर्म दीपिका (मराठी में) ले० 'ऋग्वेदी'

हिंदूधर्म के स्वरूप को स्पष्ट करने वाली उदार दृष्टि
से लिखी हुओ विस्तृत पुस्तक, पृ० सं० ५१० २–८–०

सुरुचि–पुस्तक भण्डार
राष्ट्रभाषा प्रचार समिति
वर्धा (मध्यप्रान्त)

प्रकाशक:–दादा धर्माधिकारी, बजाजवाडी, वर्धा (मध्यप्रांत)।
मुद्रक:—वल्लभदास जाजू, श्रीकृष्ण छापखाना लिमिटेड, बच्छराज रोड, वर्धा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar